श्री लोंकाशाह मत-समर्थन

जयपुर

द्रव्य सहायक—
एक गुप्त दानी

मुद्रक-
श्री महावीर प्रिंटिङ्ग प्रेस, ब्यावर.

प्रथमावृत्ति 1100 | मूल्य ।) | वी सं २४६६ वि सं १९९६

श्री रतनलाल डोशी, सैलाना.



स्था० जैन समाजना प्रखर चर्चावादी
अने तत्त्वज्ञ

धर्म सुधारक-महान् क्रान्तिकार

श्रीमान् लोंकाशाह

का

संक्षिप्त परिचय





न्नति और अवनति यह दो मुख्य अवस्थाएँ अनादिकाल से चली आती है। जो जाति, धर्म या देश कभी उन्नत अवस्था में थे, वे समय के फेर से अवनत अवस्था को भी प्राप्त हुए, इसी प्रकार जो अस्ताचल में दिखाई देते थे, वे उन्नति के शिखर पर भी पहुँचे, एकसी अवस्था किसी की नहीं रहती! जैन इतिहास को जानने वाले अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी की

उन्नत अवनत अवस्थाओं से भली भांति परिचित हैं। तद्नुसार जैन धर्म को भी कई वार अनुकूल और प्रतिकूल अवस्थाओं में रहना पड़ा। इतिहास साक्षी है कि भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर स्वमी के मध्यकाल में कितना परिवर्तन होगया था, श्रमण संस्कृति में कितनी शिथिलता आ गई थी, धर्म के नाम पर कितना भयंकर अंधेर चलता था, नर हत्या में धर्म भी ऐसे ही निकृष्ट समय में माना जाता था. ऐसी दुरावस्था में ही अहिंसा एवं त्याग के अवतार भगवान् महावीर स्वामी का प्रादुर्भाव हुआ, और पाखण्ड एवं अन्ध विश्वास का नाश होकर यह वसुन्धरा एक वार और अमरापुरी से भी वाजी मारने लगी, मध्यलोक भी उर्द्धलोक (स्वर्ग धाम) बन गया, परमैश्वर्य्यशाली देवेन्द्र भी मध्यलोक में आकर अपने को भाग्यशाली समझने लगे; यह सब जैनधर्म की उन्नत अवस्था का ही प्रभाव था, ऐसे उदयाचल पर पहुँचा हुआ जैन धर्म थोड़े समय के पश्चात् फिर अवनत गामी हुआ, होते २ यहां तक स्थिति हुई कि धर्म और पाप में कोई विशेष अन्तर नहीं रहा। जो कृत्य पाप माना जाकर त्याज्य समझा जाता था, वही धर्म के नाम पर आदेय माना जाने लगा। हमारे तारण तिरण जो पृथ्वी आदि षटकाया के प्राण वध को सर्वथा हेय कहते थे, वही प्राण वध धर्म के नाम पर उपादेय हो गया। मन्दिरों और मूर्तियों के चक्कर मेंपड़कर त्यागी वर्ग भी हम गृहस्थों जैसा और कितनी ही बातों में हम से भी बढ़ चढ़ कर भोगी हो गया। स्वार्थ साधना में मन्दिर और मूर्ति भी भारी सहायक हुई, मन्दिरों की जागीर, लाग, टेक्स, चढ़ावा आदि से द्रव्य प्राप्ति अधिक होने लगी। भगवान् के नाम पर भक्तों को उल्लू बनाना

बिल्कुल सहज होगया। बिना पैसे चढ़ाये धर्म की कोई भी क्रिया असफल हो जाती थी। धन, जन, सुख एवं इच्छित कार्य साधने के लिए दुखी शङ्क जन विविध प्रकार की मान्यताएँ (मागनी) लेने लगे। इस प्रकार त्यागी वर्ग ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को भुलाकर विविध प्रकार से मन्दिर मूर्तियों का पुजना पूजाना और इस प्रकार पाखण्ड एवं अंध विश्वास का प्रचार करना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य बना लिया था। धर्मोपदेश में भी वही स्वार्थ पूरित नूतन ग्रन्थ, कथाएँ, चरित्र और रास महात्म्य आदि जनता को सुनाने लगे जिससे जनता बस मन्दिरों के सुन्दराकार पाषाण को ही पूजने में धर्म मानने लगी। सत्य धर्म के उपदेशक ढूंढने पर भी मिलना कठिन होगये, इस प्रकार अवनति होते होते जब भयंकर स्थिति उत्पन्न होने लगी, जब ऐसे निकृष्ट समय में जैन शासन को फिर एक महावीर की आवश्यता हुई, बिना महावीर के बहुत समय से गहरी जड़ जमाये हुए पाखण्ड का निकन्दन होना असम्भव था, ऐसे विकट समय मे इसी जैन समाज को प्रकृति ने एक वीर प्रदान किया।

विक्रमीय पन्द्रहवी शताब्दी के वृद्धकाल में जैन समाज को उन्नत बनाने, और भगवान् महावीर के शास्त्रों में छिपे हुए पुनीत सिद्धांतों का प्रचार कर पाखंड का विध्वंस करने के लिये इसी जैन जाति में दूसरा धर्म क्रातिकार श्रीमान् लोंकाशाह का प्रादुर्भाव हुआ। श्रीमान् अपनी प्राकृतिक प्रतिभा से बाल्यकाल ही में प्रौढ़ अनुभवियों को भी मार्ग दर्शक बन गये, आप रत्न परीक्षा में निपुण एव सिद्धहस्थ थे एक वार इसी रत्न परीक्षा में आपने बड़े २ अनुभवी एवं वृद्ध

जौहरियों को भी अपनी परीक्षा बुद्धि से चकित कर दिया। फलस्वरूप आप राज्यमान्य भी हुए, कुछ समय तक आपने राज्य के कोषाध्यक्ष के पद को भी सुशोभित किया, तदनन्तर किसी विशेष घटना से संसार से उदासीनता होने पर राज्य काज से निवृत्त हो, आत्मचिन्तन में लगे। श्रीमान् पठन मनन के बड़े शौकीन थे, उचित संयोगों में आपने जैन आगमों का पठन एवं मनन किया, जिससे आपके अन्तर्चक्षु एकदम खुल गये, पुनः २ शास्त्र स्वाध्याय एवं मनन होने लगा, साथ ही वर्तमान समाज पर दृष्टिपात की। शास्त्रों के पठन मनन से श्रीमान् की परीक्षा बुद्धि एकदम सतेज होगई। समाज में फैले हुए पाखंड और अन्धविश्वास से आपको अपार खेद हुआ, ओर से छोर तक विषम परिस्थिति देखकर आपने पुनः सुधारकर धर्म को असली स्वरूप में लाने के लिये पूज्य वर्ग से तत् विषयक विचार विनिमय किया, परिणाम में शिथिलाचारिता एवं स्वार्थपरता का ताण्डव दिखाई दिया, जब वीतराग मार्ग की यह अवस्था इस वीर श्राद्धवर्य से नहीं देखी गई, तब स्वयं दृढ़ता पूर्वक कटिबद्ध हो प्रण किया कि—" मैं अपने जीतेजी जिन मार्ग को इस अवनत अवस्था से अवश्य पार कर शुद्ध स्वरूप में लाउंगा, और शुद्ध जैनत्व का प्रचार कर पाखंड के पहाड़ को नष्ट करूंगा, इस पुनीत कार्य में भले ही मेरे प्राण चले जांय पर ऐसी स्थिति मैं शक्ति रहते कभी भी सहन नहीं कर सकता" शीघ्र ही आपने सुधार का सिंहनाद किया, पाखंड की जड़ें हिल गईं, पाखंडी घबड़ा गये, इस वीर का प्रण ही पाखंड को तिरोहित करने का श्री गणेश हुआ। लगे सद्धर्म्म का प्रचार करने, जनता भी मूल्यवान् वस्तु की ग्राहक होती है। जब तक सच्चे रत्न

की परीक्षा नहीं हो तभी तक कांच का टुकड़ा भी रत्न गिना जाता है, परे जब असली और सच्चे रत्न की परीक्षा हो जाती है तब कोई भी समझदार काच के टुकड़े को फेंकते देर नहीं करता। ठीक इसी प्रकार जनता ने आपके उपदेशों को सुना, सुनकर मनन किया, परस्पर शंका समाधान किया परीक्षा हो चुकने पर प्रभु वीर के सत्य, शिव, और सुन्दर सिद्धात को अपनाया, पाखंड और अन्धश्रद्धा के बंधन से मुक्ति प्राप्त की। एक नहीं सैकड़ों, हजारों नहीं, किन्तु लाखों मुमुक्षुओं ने भगवान् महावीर के मुक्तिदायक सिद्धांत को अपनाया, सैकड़ों वर्षों से फैले हुए अन्धकार को इस महान् धर्म क्रांतिकार लोकमान्य लोंकाशाह ने लाखों हृदयों से विलीन कर दिया। मूर्तिपूजा की जड़ खोखली होगई। यदि यह परम पुनीत आत्मा अधिक समय तक इस वसुन्धरा पर स्थिर रहती तो सम्भव है कि—निह्नव मत की तरह यह जड़पूजा मत भी सदा के लिये नष्ट हो जाता, किन्तु काल की विचित्र गति से यह महान् युगसृष्टा वृद्धावस्था के प्रात काल ही में स्वर्गवासी वन गये, जिससे पाखड की दृढ़ भित्ति बिलकुल धराशायी नहीं हो सकी।

श्रीमान् के ज्ञानवल और आत्मबल की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है, इसी आत्मबल का प्रभाव है कि एक ही उपदेश से मूर्तिपूजकों के तीर्थयात्रा के लिये निकले हुए विशाल संघ भी एकदम जड़पूजा को छोड़ कर सच्चे धर्म-भक्त बन गये। क्या यह श्रीमान् के आत्मबल का ज्वलन्त प्रमाण नहीं है? यद्यपि स्वार्थप्रिय जड़ोपासक महानुभावों ने इस नर नाहर की, सभ्यता छोड़कर भर पेट निन्दा की

है, किन्तु निष्पक्ष सुज्ञ जनता के हृदय में इस महापुरुष के प्रति पूर्ण आदर है। इतिहासज्ञ इस अलौकिक पुरुष को सुधारक मानते हैं। यही क्यों? हमारे मूर्तिपूजक बन्धुओं की प्रसिद्ध और जवाबदार संस्था 'जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर' ने प्रोफेसर हेलमुटग्लाजेनाप के जर्मन ग्रन्थ 'जैनिज्म' का भावान्तर प्रकाशित किया है उसमें भी श्रीमान् को सुधारक माना है, और सारे संघ को अपना अनुयायी बनाने की ऐतिहासिक सत्य घटना को भी स्वीकार किया है, देखिये वहां का अवतरण--

" शत्रुंजयनी जात्रा करीने एक संघ अमदावाद थइने जतो हतो तेने एणे पोताना मतनो करी नाख्यो " (जैन धर्म पृ० ७२)

ऐसे महान् आत्मबली वीर की द्वेषवश व्यर्थ निन्दा करने वाले सचमुच दया के ही पात्र हैं।

हम यहां संक्षिप्त परिचय देते हैं। अतएव अधिक विचार यहां नहीं कर सकते। किन्तु इतना ही बताना आवश्यक समझते हैं कि--

श्रीमान् लोंकाशाह ने, जैन धर्म को अवनत करने में प्रधान कारण, शिथिलाचार वर्द्धक, पाखण्ड और अन्ध विश्वास की जननी, भद्र जनता को उल्लू बनाकर स्वार्थ पोषण में सहायक ऐसी जैनधर्म विरुद्ध मूर्तिपूजा का सर्व प्रथम बहिष्कार कर दिया, जो कि जैन संस्कृति एवं आगम आज्ञा की घातक थी, यह बहिष्कार न्याय संगत और धर्म सम्मत था, और था प्रौढ़ अभ्यास एवं प्रबल अनुभव का पुनीत फल। क्योंकि मूर्तिपूजा धर्म कर्म की घातक होकर मानव

को अन्धविश्वासी बना देती है और साथ ही प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग भी करवाती है। मूर्तिपूजा से आत्मोत्थान की आशा रखना तो पत्थर की नाव में बैठ कर महासागर पार करने की विफल चेष्टा के समान है।

श्रीमान् लोंकाशाह द्वारा प्रबल युक्ति एवं अकाट्य न्यायपूर्वक किये गये मूर्तिपूजा के खण्डन से जड़पूजक समुदाय में भारी खलबली मची। बड़े २ विद्वानों ने विरोध में कई पुस्तकें लिख डाली किन्तु आज पाच सौ वर्ष होने आये अब तक ऐसा कोई भी मूर्तिपूजक नहीं जन्मा जो मूर्ति पूजा को वर्द्धमान भाषित या आगम विधि (आज्ञा) सम्मत सिद्ध कर सका हो। आज तक मूर्ति पूजक बन्धुओं की ओर से जितना भी प्रयत्न हुआ है सब का सब उपेक्षणीय है। बस इसी बात को दिखाने के लिए इस पुस्तिका मे श्रीमान् लोंकाशाह के मूर्तिपूजा खण्डन के विषय में मूर्तिपूजकों की कुतर्कों का समाधान और श्रीमान् शाह की मान्यता का समर्थन करते हुए पाठकों से शांतचित्त से पढ़ने का निवेदन करते हैं।



॥ श्री ॥

श्री लोंकाशाह मत-समर्थन

गुजराती संस्करण पर प्राप्त हुई

सम्मतियाँ

(१) भारत रत्न शतावधानी पंडित मुनिराज श्री रत्नचन्द्रजी महाराज और उपाध्याय कविवर मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज साहब की सम्मति--

"लोंकाशाह मत-समर्थन" अपने विषय की एक सुन्दर पुस्तक कही जाती है, लोंकाशाह के मन्तव्यों पर जो इधर उधर से आक्रमण हुए हैं, लेखक ने उन सब का सचोट उत्तर देने का प्रयत्न किया है। और लोंकाशाह के मंतव्यों को आगम मूलक प्रमाणित किया है। उदाहरण के रूप में जो मूल पाठ दिए हैं वे प्रायः शुद्ध नहीं हैं। अतः अगले संस्करण में उन्हें शुद्ध करने का ध्यान रखना चाहिए।

मतभेदों को एकान्त बुरा नहीं कहा जा सकता, और उन पर कुछ विचार चर्चा करना यह तो बुरा हो ही कैसे सकता है ? जहा मिठास के साथ यह कार्य होता है वह उभय पक्ष में अभिनन्दनीय होता है, और आगे चलकर वह मत भेदों को एक सूत्र में पिरोने के लिए भी सहायक सिद्ध होता है। हम आशा करेंगे कि--इस चर्चा में रस लेने वाले उभय पक्ष के मान्य विद्वान् इस नीति का अवश्य अनुसरण करेंगे।

(२) श्रीमान् सेठ वर्धमानजी साहब पीत-लिया रतलाम से लिखते हैं कि--

हमने लोंकाशाह मत समर्थन पुस्तक देखी, पढ़कर प्र सन्नता हुई। पुस्तक बहुत उपयोगी है अलवत्ता भाषा में कितनी जगह कठोरता ज्यादे है वो हिंदी अनुवाद में दूर होना चाहिए, जिससे पढ़ने वालों को प्रिय लगे। पुस्तक प्रकाशन में प्रश्नोत्तर का ढंग और प्रमाण युक्ति संगत है।

(३) युवकहृदय मुनिराज श्री धनचन्द्रजी महाराज की सम्मति--

आपकी लोंकाशाह मत समर्थन पुस्तक स्था० समाज के लिए महान् अस्त्र है। जो परिश्रम आपने किया उसके लिए धन्यवाद। ऐसी पुस्तकों की समाज में अत्यन्त आवश्यकता है। आपकी लेखनी सदैव जिनवाणी के प्रचार के लिए तैयार रहे।

स्थानकवासी जैन कार्यालय अहमदाबाद में आई हुई सम्मतियों में से कतिपय सम्मतियों का सार—

(४) पूज्य श्री गुलाबचन्दजी महाराज (लिंबड़ी सम्प्रदाय)

लोंकाशाह मत-समर्थन पुस्तक वांचतां घणो आनन्द थयो, आवा उत्तम प्रयास बदल लेखक रतनलाल दोशी ने धन्यवाद घटे छे, अनेक प्रमाणो सहित आ पुस्तक थी स्था. जैन समाज नी धर्म श्रद्धा दृढ़ थशे।

(५) पूज्य श्री नागजी स्वामी (कच्छ मांडवी)

श्री लोंकाशाह मत-समर्थन जैन जनता माटे घणुंज उपयोगी अने प्रमाणित पुस्तक छे।

(६) पूज्य श्री उत्तमचन्द्रजी स्वामी, (दरियापुरी सम्प्रदाय)

लोंकाशाह मत-समर्थन नामनुं पुस्तक घणुंज सारुं छे।

(७) श्रीयुत भाईचन्द, एम. लखाणी करांची—

लोंकाशाह मत-समर्थन नामनुं पुस्तक वांची घणोज आनन्द थयो छे।

(८) श्रीयुत रागवजी परसोत्तमजी दोशी धाफा—

हालमां लोंकाशाह मत समर्थन नी चोपड़ी छपायेल छे, ते मारा वाचवा थी घणोज खुशी थयो छुं, रुपया २) मोकलुं छुं तेनी जेटली प्रतो आवे तेटली गामड़ामां प्रचार करवो छे माटे फायदे थी मोकलशो, आ बुक मा सूत्र सिद्धान्त अनुसार घणा सारा दाखला आप्या छे ते वाची हु खुशी थयो छुं।

(९) श्रीयुत जेचन्द अजरामर कोठारी सिविल स्टेशन राजकोट से लिखते हैं कि—

आपनु लोंकाशाह मत-समर्थन अने मुखवस्त्रिका सिद्धि बन्ने पुस्तक वाच्या, बे त्रण वार अथ इति वाच्या, तेमा सिद्धांतों ना दाखला दलीलो अने विशेष करीने विरोधी पक्ष ना अभिप्रायो जणावी न्याय थी श्रमणोपासक समाजनी पूरे पूरी सेवा बजावी छे तेने माटे रतनलाल डोशी ने अखण्ड धन्यवाद घटे छे, समाजे कोई न कोई रूपमा तेमनी कदर करवी जोइए, श्री डोशी जेवा निडर पुरुष जमानाने अनु-सरी पाकवाज जोइए।

(१०) श्रीयुत वेचरदासजी गोपालजी राज-कोट से लिखते हैं कि—

लोंकाशाह मत समर्थन पुस्तक वांच्युं छे, वाची मने घणोज आनन्द थयो छे, आमां जे काई पुरावा आप्या छे, ते बधा बराबर छे, मुखवस्त्रिकासिद्धि छपायु होय तो जरूर मोकलशो।

(११) सदानन्दी जैन मुनि श्री छोटालालजी महाराज एक पत्र द्वारा निम्न प्रकार से स्था० जैन के संपादक को लिखते हैं--

॥ अभिनन्दन ॥



पोतानी महत्ता वधारवामां अंतराय पड़े, अने चैतन्य पूजानी महत्ता वधे ते मूर्तिपूजक समाजना साधु महापुरुषों अने गृहस्थों ने कोई पण रीते रुचतुं न होवा थी कोई न कोई बहानुं मलतां स्थानकवासी समाज ऊपर भाषानो संयम गुमावीने अनेक प्रकारना आक्षेपो वारम्वार कर्यांज करे छे, अने जाणे स्थानकवासी समाजनुं अस्तित्वज मटाड़ी देवुं होय तेवो प्रयत्न सेवी रहेल छे।

आ आक्रमणनो न्याय पुरःसर भाषासमिति ने साचवी ने पण जवाब आपवा जेटलीए अमारी समाजना पण्डितो विद्वानो, अने नवी नवी मेलवेली पदवीना पदवीधरो ने जराए फुरसद नथी, मोटे भागे अपवाद सिवाय दरेक ने पोताना मान पान वधारवानी अने वधुमां पोताना नाना वाड़ाने येन केन प्रकारे जालवी राखवानी अने एथीए वधु मारा जेवाने अनेक अतिशयोक्ति भरेला पोतानी कीर्तिना वणगा फुंकाववानी प्रवृत्ति आडे जराए फुरसद मलती नथी, एवा वखते--

श्रीमान् रतनलाल दोशी सैलाना वाला शास्त्रीय पद्धति-ए स्थानकवासी समाजनी जे अपूर्व सेवा बजावी रहेल छे, ते अति प्रशंसनीय छे, अने एना माटे मारा अन्तःकरणना अभिनन्दन छे।

घणा वर्षो पहेलां प्रसिद्ध वक्ता श्रीमान् चारित्रविजयजी महाराजे मागरोल बंदरे जनसमूह वच्चे व्याख्यान करतां कहेलुं के श्वेताम्बर जैन समाजना बे विभाग स्थानकवासी अने देरावासी १०० मा ९८ बाबतोंमा एक छे, मात्र बे बाबतो माज विचारभेद छे तो ९८ बाबत ने गौण बनावी मात्र बे बाबतो माटे लडी मरे छे ते खरेखर मुर्खाई छे, तेमनु आ कहेवुं हाल वधारे चरितार्थ थतुं होय तेम जोवाय छे।

टुंकामा श्रीयुत रतनलाल दोशीने तेमनी स्थानकवासी समाजनी, अप्रतिम सेवा माटे फरीवार अभिनन्दन आपी पोते आदरेल सेवा यज्ञ ने सफल करवा, तेमा आवता विघ्नो-थी न डरवा सूचना करी स्थानकवासी समाजना मुनिवर्ग अने श्रावक वर्गने आग्रह भरी विनन्ती करुं छु के—श्री रतनलाल दोशी ने बनती सेवा कार्यमा सहाय करवी, अने वधु नहीं तो छेवट स्थानकवासी जैनधर्मनी अभिवृद्धि अर्थे तेनी सत्यता अर्थे तेमना तरफथी जे जे साहित्य प्रकट थाय तेनो वधुमा वधु फेलावो करवो, एक पण गाम एवु न होवुं जोइए के ज्या ए दोशीना लखेल साहित्यनी २-५ नकलो न होय। हिंदीमा होय तो तेनो गुजरातीमा अनुवाद करीने तेनो प्रचार करवो।

श्री रतनलाल दोशी ने तेमना समाज सेवानां कार्यमा साधन, संयोग, समय, शक्ति ए सर्वेनी पूरती अनुकूलता मले एवी आ अन्तरनी अभिलाषा छे। ॐ शान्ति !

मू० पू० जैन पत्र की विरोधी आलोचना



"जैन" भावनगर ता. ८ अगस्त १९३७ पृष्ठ ७३२

अभ्यास अने अवलोकन

अन्तर क्लेश नोतरतुं ए अयोग्य प्रकाशन

[ले० अभ्यासी]

आजे एक मारा मित्रे स्थानकवासी जैन पत्रनी चोथा वर्षनी भेटनुं पुस्तक मने मोकल्युं छे, आ पुस्तकनुं नाम छे "लोंकाशाह मत-समर्थन". पुस्तकनुं नाम जोता मने घणीज खुशाली उपजी के ठीक थयुं. आ पुस्तक लेखके लोंकाशाह-संबंधे प्राचीन अर्वाचीन प्रमाणो शोधी काढी खास लोंकाशाह नुं मन्तव्य प्रकशित कर्युं हशे, आखुं पुस्तक उत्साह भरे पुरुं वांची नाख्युं परन्तु आखा पुस्तकमां क्यांय लोंकाशाहना मत नुं समर्थन नथी, समर्थन तो दूर रह्युं किन्तु लोंकाशाहना एक पण सिद्धांत नुं विधान पण नथी कर्युं. आ पुस्तक वांचवा पछी मने लाग्युं के लोंकाशाहनो कोई सिद्धांतज नथी, कवि-वर लावण्यसमये तो खास लख्युं हतुं के लोंकाशाहे पूजा प्रतिक्रमण, सामायिक, पौषध, दया आदिनो लोपज कर्यो छे, आ वधानो लोप लोंकाशाहे कर्यो छे, तो पछी तेना मत-नुं समर्थन शानुं थाय ? एटले भाई रतनलाल ने शोधवा नीकलवुं पड्युं छे, के लोंकानो मत शो ? अन्ते तेमां निराशा सांपड़वाथी तेओने श्वेताम्बर मत निन्दा पुराण रचवुं पड्युं होय एम लागे छे।

आजथी त्रण वर्ष पहेला स्थानकवासी समाजना मनाता यशस्वी लेखक संतबालजीए स्थानकवासी कोन्फ्रेन्सना मुखपत्र 'जैन प्रकाशमा' श्रीमान् लोंकाशाहना नामनी लांबी लेखमाला लखी हती ते वखते पण तेमणे लख्यु हतुं केलोंका-शाहनु जीवन चरित्र नथी मलतुं छतांय तेमणे स्थानक मार्गी समाज ने पसद पडे तेवुं सुन्दर कल्पनाचित्र दोरी ए चरित्र लांबी लेखमाला रुपे रजु कर्यु हतुं, अने तेमा केटलाक श्वेताम्बर आचार्यो माटे अमर्यादित लखाण लखायेल ! जेनो सुन्दर जवाब श्वे० समाजना विद्वान् साधुओए अने श्रावको ए आप्यो हतो, अने चर्चाए एवु तीव्र स्वरूप लीधु हतु के उभय पक्षने नजीक आववाना आजे जे प्रयासो थाय छे ते शुभ मुदार वर्षो माटे दूरने दूर ठेलाय ।

आ कडवो प्रसग हजु क्षितिज पर थी दूर थतो आवे छे त्या ए वितण्डावादमाज शासन सेवा होय तेम मानीने के गमे ते आशय थी आजे आ पुस्तक प्रकट करी जैन समाजना दुर्भाग्यनो एक कड़वो प्रसंग उभो कर्यो छे।

आ पुस्तक वाचनार कोई पण भाई स्हेजे कहेशे के आवा "लोंकाशाह मत-समर्थन" ना नाम नीचे श्वेताम्बर आचार्यो नी पेट भरीने निन्दा करवामा आवी छे, मूर्तिपूजानुंज मर्या दित शैलीए खण्डन करवामा आव्युं छे, मूर्तिपूजानु खडन ए काई भारतनी प्राचीन आर्य संस्कृति नथी, इस्लामी समय-थी जगतमा मूर्तिपूजानो विरोध शुरु थयो अने ते अनार्य्य सस्कृतिना फल स्वरूप इस्लामी संस्कृतिमाज उत्पन्न थयेल इस्लामी युगमाज फलेल फूलेल दुढक मतना उपासकोए

जैनधर्ममां मूर्तिपूजानो विरोध दाखल कर्यो ए वस्तुना निरूपण माटेज स्थानकवासी जैन पत्रे आ पुस्तक प्रगट कर्युं होय तेम स्पष्ट जणाइ आवे छे ।

"सूरि महात्माओना व्हेकाववाथी' 'शुद्ध श्रद्धाथी पतित आत्मारामजी' 'भणावी राखेला तोता' 'आ गरबड़ गोटालो सावद्य गुरु घंटालो एज कर्योछे' 'मूर्ति वांदवानो अडंगो लगाव्यो छे' 'मूर्तिपूजा करवानुं शास्त्रीय विधान छे एवी डींग मारवीए मूर्खता छे' 'स्वामीजीए (आत्मारामजीए) डींग मारी छे तेमनुं कथन मिथ्या छे' 'चैत्यशब्द थी व्हेकी जइने मूर्तिपूजानुं पाखण्ड सिद्ध करवुं ए अन्याय छे' 'निर्युक्तिनो अर्थ करतां आ स्थानकमार्गी पण्डित पोतानी पण्डिताइ बतावे छे' 'निर्गता युक्तिर्यस्याः निर्युक्ति' 'खरी रीते स्थानकमार्गी समाज व्याकरणने व्याधिकरण माने छे एनाज आ प्रताप छे"

"आवी रीते श्रेणिक राजानुं हमेशा १०८ स्वर्ण जवथी पूजवानुं कथन गपोड़ शास्त्र छे' 'महानिशिथमां मूर्तिपूजानुं खण्डन तथा स्वार्थीओना पोकलो खुल्ला करवामां आव्यां छे' 'मूर्तिनी गुणगाथाओं कल्पित कहाणीओज छे' आ देशमां गुलामीनुं आगमन प्रायः मूर्तिपूजानी अधिकता थी थयुं छे' 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुषना रचनार ने एवुं कयुं दिव्य ज्ञान प्रगट थयुं हतुं के जेथी तेमणे मरिचि ने वन्दन करवानी गप्प हाकी ? आ तो केवल गप्प सिवाय बीजुं कशुं नथी' 'आ मान्यता (पूजानी) एकान्त मिथ्यात्वोपासक तथा धर्म घातक छे' 'अरे स्वार्थीजनों! मिथ्या कुतर्क उत्पन्न करी हिंसाने केम प्रोत्साहन आपो छो'? 'सूरिओए आ अन्धेर खातुं केम चलाव्युं'?

अमने तो तेमा तेमनी विषय लोलुपता तेमज स्वार्थान्धता जणाइ आवे छे' 'माटे ए जिनमूर्तिनो उपदेश आपनार नामधारी त्यागिओ भोगिओनी अपेक्षाए वधारे पापकी सिद्ध थाय छे' 'आ आत्मारामजी महाराजना धर्मोपदेशनो नमुनो छे ? एमना अन्धश्रद्धालु भक्तो कदी पोतानी बुद्धि थी ××× विचारता नथी' 'ए गुरुवर्योए पोताना स्वार्थ पोषण तथा इन्द्रिय विषयोने पूर्ण करवानो मार्ग काढ्यो छे"

"आ कलिकाल सर्वज्ञ तथा महान् आचार्यनी पदवी धारण करनार नामधारी जैन साधुओए केवी रीते पोताना साधुत्व ने लाछन लगाड्युं छे? हेमचन्द्राचार्य हतातो सर्वज्ञ? नहीं तो सर्वज्ञ वगर आवी वात कोण कहे? पक्षान्धता शु नथी करावती"

जैनधर्मना आत्मकल्याणकारी तीर्थो अने तीर्थ यात्रा माटे लेखक आ प्रमाणे लखे छे.—

"पहाडोमा रखडता, आत्मारामजीए पोते पण मूलमा धूल मेळवी ने अनन्त ससार परिभ्रमण करवा रूप फल प्राप्त कर्युं छे, मनमानी हांकी अर्थनो अनर्थ कर्यो छे, उत्तराध्ययन निर्युक्तिकारे गौतम स्वामीने माटे साक्षात् प्रभुने छोडी पहाडोमा भटकवानुं लखी मार्यु"

आवश्यक निर्युक्तिकारे श्रावकोने मन्दिर बनाववा, पूजा करवी वगेरे विषयोमा अडगा लगाव्या' मूर्तिपूजक गुरुगरिष्ठ पं० न्यायविजयजी--न्यायनो खून करनार न्यायविजयजी' 'न्यायविजयजीए न्यायनु खून कर्युं छे, आवी अभिनिवेशमा उन्मत्त व्यक्तिओ' 'शुद्ध श्रद्धाथी पतित आत्मारामजी' 'मूर्तिपूजक बन्धुओ हमणा मूर्तिपूजा मानवा रूप उन्मार्ग पर छे'।

आवी आवी घणीए पुष्पांजलिओ आ पुस्तकमां भरी छे, श्री सागरानन्दसूरिजी, श्री वल्लभसूरिजी, मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी, मुनि श्री दर्शनविजयजी. श्री लब्धिसूरिजी आदि श्वेताम्बर समाजना विद्वानो ने निंदवामां आ लेखक आगल वध्या छे।

आवी रीते कोई पण वितण्डावाद उभो करवामां स्था० मार्गी समाज पहेल करे छे, कलेश नोतरे छे, अने तेनो कोइ जवाब आपे एटले दलीलना अभावे घबराइ जाय, अशांति अशांतिनी बांग पोकारे, संतवालनी लेखमालाना जवाबो अपाया पछी समाज शांत हती, पण आ नवा पंडितने ए शांति न गमी, एटले मूर्तिपूजाना खण्डननुं अने श्वेताम्बराचार्योनी निन्दानुं पुराण रची नाख्युं, खरी रीते संतवालना जवाबमां मुनिराज श्री ज्ञानसुन्दरजी रचित मूर्तिपूजा का इतिहास अने श्रीमान् लौंकाशाह बन्ने पुस्तको छे, आ बन्ने पुस्तको ढुंढक समाजने एवा सचोट उत्तर आपनारा छे के पंडित रतनलाल जेवानां सैंकडो पुस्तको तेनी सामे झांखा पडी जाय तेम छे, मूर्तिपूजाना जे पाठो जेठमलजीए समकितसारमां, हरखचन्दजीए राजचन्द्र विचार समीक्षामां, अमोलखऋषिए पोतानी आगम बत्रीसीमां छपाव्यां तेज पाठो अने अर्थोथी ए पुस्तकोमां सिद्ध कर्युं छे के जिनमूर्तिना पाठो शास्त्रोमां छे, आ पाठो ने जुठा ठरावया आ पंडित बहार पड्या छे, पंडित बेचरदासना मूर्तिपूजाना विचारो माटे राय पसेणीय सूत्रनो तेमनो अनुवाद जोवानी हुं भलामण करुं छुं।

मुनि सम्मेलन द्वारा स्थापित प्रतिकार समिति ने खास सूचना छे के आ ग्रन्थनुं अवलोकन करी तेमां शास्त्रना पाठो-

ना नामे जे भ्रम जाल उभी करी छे तेनो जवाब आपे, आ भ्रम जाल खास करीने कानजी स्वामी ढुंढक मत छोडी निकल्या अने तेमनी पाछल बीजो समाज न जाय तेमने माटेज रचाणी छे, बाकी आ पुस्तकनो खरो जवाब तो कानजी स्वामी आदिए ढुंढक मत त्यजी, मूर्तिपूजा स्वीकारी ने आपीज दीधो छे।

उक्त विरोधी लेख का उत्तर "स्थानकवासी जैन" पत्र में गुजराती में ता० २१-८-३७ के पृष्ठ ५' में और हिंदी में जैन पथ प्रदर्शक" में ता० २५-८-३७ के अङ्क के पृष्ठ ५ के दूसरे कॉलम से निम्न प्रकार से दिया गया है।

मि० अभ्यासी की अवलोकन दृष्टि

'लोंकाशाह मत-समर्थन' पर मूतिपूजक 'जैन' पत्र के किसी पर्देनशीन अभ्यासी (विद्यार्थी की दृष्टि पड़ी। अभ्यासी महोदय ने ता० ८ अगस्त ३७ के अङ्क में 'अभ्यास अने अवलोकन' शीर्षक में जो कलम चलाई है वह वास्तव में उनके अपूर्ण अभ्यास की सूचिता है। यद्यपि अभ्यासी बन्धु ने लोंकाशाह मत समर्थन के लिए ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया, जिससे उसकी सत्य एव प्रमाणिकता में बाधा पहुंचे, और मुझे अपन निबन्ध की सत्यता के विषय में लेखक को कुछ सूचना देनी पड़े, तथापि अभ्यासी महोदय के अभ्यास की अपूर्णता एव तत् सम्बन्धी दूषणों को दूर करने के लिए निम्न पक्तिया लिख देना उचित समझता हूँ।

१—अभ्यासी बन्धु को 'लोंकाशाह मत समर्थन' में लोंकाशाह के मत का समर्थन ही नहीं सूझा यह तो है अवलोकन

की वलिहारी। इस पर से इतना तो सहज ही मालूम देता है कि—अभ्यासक महोदय कदाचित अभ्यास सम्बंधी प्रथम श्रेणी के ही छात्र (बालक) हों। जिस समाज के वे सपूत हैं उसके ग्रन्थकार ही श्रीमान् धर्मप्राण लोंकाशाह को मूर्तिपूजा उत्थापक, मूर्तिपूजा के निषेधक कहकर सम्बोधन करते हैं, वे सब यह मानते हैं कि श्रीमान् लोंकाशाह ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज उठाई थी, बस अभ्यासी भाई को समझ लेना चाहिए कि उसी सत्य एवं सिद्धांत मान्य आवाज के समर्थन रूप यह पुस्तक है। इतना भी ज्ञान यदि अभ्यासी बंधु को होता तो उन्हें अपनी कलम कृपाण को चलाने का मौका नहीं आता।

आगे चलकर अनऽभ्यासी बन्धु, श्रीमान् लोंकाशाह को सामायिक, पौषध, दया, दानादि के लोप करने वाले कहते हैं, और प्रमाण में लावण्यसमय का नाम उच्चारण करते हैं, यह सर्वथा अनुचित है। हमारे इन भोले भाई को ध्यान में रखना चाहिए कि—लोंकाशाह के शत्रु उन पर चाहे सो आक्षेप करें पर वह प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता. जिस प्रकार अभी थोड़े दिन पहले आपके इसी 'जैन' पत्र के किसी तुच्छ लेखक ने इस महान् क्रांतिकार को वेश्या पुत्र कह डालने का दु.साहस किया था (और फिर दाम्भिक दिल गिरी प्रकट कर अपनी मृषावादिता प्रकट की थी) वैसे ही आगे चलकर फिर कोई महानुभाव आपके जैन पत्र के पूर्व के नीच आक्षेप वाले लेख का प्रमाण देकर लोंकाशाह को वेश्या पुत्र सिद्ध करने की कुचेष्टा करे तो क्या वह प्रमाणित हो सकेगी? हरगिज़ नहीं। इसी प्रकार जिन मूर्तिपूजकों ने

श्रीमान् लोंकाशाह के विषय में पूर्व व पश्चात् लेखनी उठाई है और गालियां प्रदान की हैं उनका प्रमाण देना सर्वथा अन्याय है।

यदि अभ्यासी बन्धु जरा प्रौढ़ बुद्धि से विचार करते तो उन्हें सूर्यवत् प्रकट मालूम देता कि—जिन महापुरुष को मैं सामायिक, दया, दानादि के उत्थापक कहने की धृष्टता करता हूं, जरा उनके अनुयाइयों की ओर तो मेरी अवलोकन दृष्टि डालूं कि— वे उक्त क्रियाएं करते हैं या नहीं? यदि इतना कष्ट भी आपने किया होता तो यह बृहद् भूल करने का अवसर नहीं आता।

अरे अनऽभ्यासी बन्धु! जरा लोंकाशाह के अनुयाइयों की ओर तो आंख उठाकर देखो, उनके समाज में सामायिक, प्रतिपूर्ण पौषध, प्रतिक्रमण, त्याग, प्रत्याख्यान, दया, दान आदि किस प्रकार प्रचुर परिमाण में होते हैं। उनके सामने तो आपकी सम्प्रदाय में उक्त क्रियाएं बहुत स्वल्प मात्रा में होती हैं। फिर आपका अभ्यासरहित वाक्य किस प्रकार सत्य हो सकता है? क्या जिस समाज में जो क्रियाएं प्रचुरता से पाई जाती हैं उनके लिए उनके पूर्वजों को उत्थापक कह डालना मूर्खता नहीं है? अतएव लोंकाशाह मत समर्थन में जो मूर्तिपूजा विषयक विचार किया गया है वह लोंकाशाह मत समर्थन अवश्य है।

२—अनऽभ्यासी बन्धु लोंकाशाह के लिए इस्लाम संस्कृति की दुहाई देते हैं, इस विषय में अधिक नहीं लिख कर केवल यही निवेदन किया जाता है कि भाई साहब!

प्रथम यह तो बताइए कि--यह पीतवसन, गृहस्थों से पग चम्पी. भार वहन अनर्थ वचन, दण्ड प्रयोग, आदि किस जैन साधुत्व संस्कृति का परिणाम है।

महाशय ! न तो मूर्तिपूजा ही जैन संस्कृति है, न तत् सम्बंधी उपदेश देना जैन साधुत्व संस्कृति है। यह है केवल अजैन एवं सांसारिक संस्कृति ही. जिनके प्रभाव में आकर यह हेय प्रवृत्ति जैन समाज में इतनी वृद्धि पाई है।

३—अभ्यासी महाशय भाषा शैली के लिए ऐतराज करते हैं, किन्तु इसके पूर्व इन्हें अपने कहे जाने वाले न्यायांभोनिधि, युगावतार महात्मा रचित सम्यक्त्व शल्योद्धार का भाषा माधुर्य देख लेना चाहिए, जिसमें उन मिष्टभाषी महानुभाव ने साधुमार्गी समाज के परम माननीय पूजनीय श्रीश्रीमद् ज्येष्ठमल्लजी महाराज के लिए निम्न शब्द काम में लिए हैं—

"जेठा, मूढ़मति, जेठा निह्नव, जेठे के बाप के चौपड़े में लिखा है" आदि।

इसी प्रकार श्रीमती महासती पार्वतीजी को दुर्मतिजी आदि दुर्शब्द अमरविजयजी ने लिखे हैं, और जैन ध्वज में प्रसिद्धि प्राप्त वल्लभविजयजी का तो कहना ही क्या है? उन्होंने तो पुराना रिकार्ड ही तोड़ डाला।

इसके सिवाय अभ्यासी महानुभाव को ज्ञानसुन्दरजी के तुच्छ प्रकाशनों के शब्द तो मधुर ही भाषित होते होंगे, क्यों कि वे तो इनके गुरु हैं, और लिखा गया है इनके विरोधियों (स्थानकवासियों) के विरुद्ध, उनके शब्द तो अश्लील होते हुए भी इन्हें अमृत सम मिष्ट लगते हैं, पर जरा उनका

सेम्पल भी तो चखिये, वे हमारे पूज्य लोंकाशाह को निह्नव हमारे पूज्य महात्माओं को कुलिंगी, नास्तिक, उत्सूत्र प्ररुपक, शासन भंजक, आदि नीच सम्बोधनों से याद किया है, जिसका कटुफल तो अभी उन्हें भोगना बाकी ही है। इसके लिए आपको व उन्हें तैयार रहना चाहिए।

४—जिस ज्ञानसुन्दरजी के वर्तमान प्रकाशन की अभ्यासी भाई सराहना करते हैं, उसमें कितनी कल्पितता भरी है, यह तो उसके उत्तर के प्रकट होने पर ही आपको मालूम होगा।

५—अभी तो अभ्यासी भाई में अर्थ समझने की भी शक्ति नहीं है, इसीसे वे वाक्यों का अनर्थ कर रहे हैं, मैंने अप्रमाणित निर्युक्ति के लिए "निर्गतायुक्तिर्यस्या" लिखा है पर हमारे अभ्यासी भाई इसे ही निर्युक्ति का अर्थ समझ रहे हैं, क्या इससे हमारे अभ्यासी बन्धु प्रथम कक्षा के अभ्यासक सिद्ध नहीं होते?

अन्त में मैं अभ्यासी महाशय को यह बतला देना चाहता हूँ कि- आपने घूंघट की ओट में रह कर सू० पू० प्रतिकार समिति से इसके खण्डन करने की जो प्रेरणा की है, इससे हमें किसी प्रकार का भय नहीं है। यदि कोई भी महाशय अनुचित रुप से कलम चलावेंगे तो उनका उचित सत्कार करने को हम भी तत्पर हैं।

मैं अपने प्रेमी पाठकों से भी निवेदन करता हूँ कि वे कथित अभ्यासी महाशय के झांसे में नहीं आकर शुद्धान्तःकरण से उसे अवलोकन कर सत्य के ग्राहक बनें। इति

रतनलाल डोशी, सैलाना—

हिंदी संस्करण के विषय में लेखक का
किंचित् निवेदन



प्रस्तुत पुस्तक का गुजराती संस्करण प्रकाशित होने के थोड़े दिन बाद ही कई मित्रों की ओर से हिंदी संस्करण प्रकाशित कर देने की सूचनाएं मिली।

यद्यपि मेरी इच्छा इस पुस्तक के हिंदी संस्करण प्रकाशित करने की नहीं थी, क्योंकि मैं चाहता था कि—मू० पू० श्री ज्ञानसुन्दरजी के मूर्तिपूजा के प्राचीन इतिहास में मूर्तिपूजा को लेकर हम पर जो आक्रमण हुए हैं, उसी के उत्तर में एक ग्रन्थ निर्माण किया जाय, जिससे इस पुस्तक के हिंदी संस्करण की आवश्यकता ही नहीं रहे, किन्तु मित्रों के अत्याग्रह और उस ग्रन्थ के प्रकाशन में अनियमित विलम्ब होने के कारण इस पुस्तक का हिंदी संस्करण प्रकाशित किया जारहा है।

सर्व प्रथम मैंने "लोंकाशाह मत-समर्थन" हिंदी में ही लिखा था, उसका गुजराती अनुवाद "स्थानकवासी जैन" के विद्वान तन्त्री श्रीमान् जीवणलाल भाई ने किया था, किन्तु असल हिंदी कॉपी वापिस मंगवाने पर बुक पोष्ट से भेजने से मुझे प्राप्त नहीं हो सकी, इसलिए गुजराती संस्करण पर से ही पुनः हिंदी अनुवाद किया गया।

इस अनुवाद में मैने बहुत से स्थानों पर बहुत परिवर्तन कर दिया है, परिवर्तन प्राय: भावों को स्पष्ट करने या विस्तृत करने के विचार से ही हुआ है, इसलिए गुजराती संस्करण वाले भाइयों को भी इसे देखना आवश्यक हो जाता है।

जो सज्जन विद्वान् और संकेत मात्र में समझने वाले हैं उनके लिए तो प्रस्तुत पुस्तक ही ज्ञानसुन्दरजी की पुस्तक के उत्तर में पर्याप्त है, किन्तु जो भाई उन्हीं की पुस्तक का उत्तर और उनकी उठाई हुई कुतर्कों का खण्डन स्पष्ट देखना चाहें उन्हें कुछ धैर्य धरना होगा, क्योंकि--यह ग्रन्थ मात्र एक ही विषय का होने पर भी बहुत बड़ा हो जाने वाला है, अतएव ऐसा कार्य विलम्ब और शांति पूर्वक होना ही अच्छा है, जब तक उसका प्रकाशन नहीं हो जाय पाठक इससे ही संतोष करें।

प्रस्तुत पुस्तक के विषय में जिन जिन पूज्य मुनि महाराजाओं और श्राद्ध बन्धुओं ने अपनी अमूल्य सम्मति प्रदान की है उन सबका मैं हृदय से आभारी हूं। इसके सिवाय इस हिंदी संस्करण के प्रकाशन में आर्थिक सहायदाता अहमदनगर निवासी मान्यवर सेठ लालचन्दजी साहब का भी यहां पूर्ण आभार मानता हू कि--जिनकी उदारता से आज यह पुस्तिका प्रकाश में आई।

बस इतने निवेदन मात्र को पर्याप्त समझ कर पूर्ण करता हूं।

विनीत

लेखक--

समर्पण—

तीर्थंकर प्रभु द्वारा स्थापित, चतुर्विध संघ रूप तीर्थ की परम पवित्र सेवा में—

मूर्ति के मोह में पड़कर स्वार्थपरता, शिथिलता, और अज्ञता के कारण कई लोग हमारी साधुमार्गी समाज पर अनुचित एवं असत्य आक्षेप करके सम्यक्त्व को दूषित करने की चेष्टा करते रहते हैं, उन आक्षेपकारों से हमारी समाज की रक्षा हो, और शंका जैसी सम्यक्त्व नाशिनी राक्षसी की परछाई से भी वञ्चित रहें, इसी भावना से यह लघु पुस्तिका भक्ति पूर्वक समर्पित करता हूं।

किंकर—

—रतन

भूमिका

जिस प्रकार सृष्टि सौन्दर्य में आर्यावर्त की शोभा अत्यधिक है, उसी प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी यह देव भूमि तुल्य माना गया है। ऐतिहासिक क्षेत्र में भारत मुख्य रहा है और दूसरे देशों के लिये अनुकरणीय दृष्टान्त रूप है। धार्मिक दृष्टि से तो भारतवर्ष कैलास के समान इस अवनी पर सुशोभित रहा है। इतना ही नहीं सर्व धर्म व्यापक सिद्धान्त "अहिंसा परमोधर्म.' का पालन भी आर्यावर्त में ही बहुत काल से प्रचलित है। सभी धर्म वालों ने अहिंसा को महत्व दिया है। जैन धर्म का तो सर्वस्व अहिंसा धर्म ही है, और इसके लिये जितना भी हो सका प्रचार किया है। जिससे भारत के पुण्य-शाली राजाओं ने अपने राज्य शासन में अहिंसा को जीवन मुक्ति का साधन मान कर प्रथम पद दिया है।

जब जब अहिंसा का महत्त्व घटकर हिंसा का प्राबल्य हुआ है तब तब किसी न किसी महान आत्मा का जन्म होता है, वे महात्मा विकार जन्य—हिंसा जनक—प्रवृत्तियों का विरोध कर नई रोशनी, नया उत्साह पैदा करते हैं। जिस समय वैदिक धर्मावलम्बियों ने हिंसा को अधिक महत्व दिया था, धर्म के नाम पर यज्ञ, याग द्वारा गौ, घोड़े तथा मनुष्य तक को भी अग्नि देव के स्वाधीन करने लगे थे, उस

मां मंगावी ले छे। क्रय-विक्रयना कार्यों मां भाग ले छे। नाना बालकों ने चेलां करवा माटे वेचता ले छे। वैदुं करे छे। दोरा धागा करे छे। शासननी प्रभावना ने वहाने लड़ालड़ी करे छे। प्रवचन संभलावीने गृहस्थो पासे थी पैसानी आकांक्षा राखे छे। ते बधामां कोई नो समुदाय परस्पर मलतो नथी। बधा अहमिंद्र छे। यथा छन्दे वर्ते छे।" आदि,

इस प्रकार बतला कर अन्त में वे आचार्य ऐसा कहते हैं कि "आ साधुओ नथी पण पेट भराओनुं टोलुं छे।" श्रीमान् हरिभद्रसुरि के समय में ही जब स्वच्छन्दता एवं शिथिलता इतनी हद तक अपनी जड़ जमा चुकी थी तब श्रीमान् लोंकाशाह के समय तक यह कितनी बढ़ गई होगी, इसका अनुमान पाठक स्वयं ही कर सकते हैं। श्रीमान् लोंकाशाह को भी इसी शिथिलाचार को हटाने के लिए क्रान्ति मचानी पड़ी। उनसे ऐसी भयंकर परिस्थिति नहीं देखी गई। उन्होंने देखा, धर्म के नाम पर पाखण्ड हो रहा है। अव्यवस्था, रूढियों के ताण्डव नृत्य, स्वार्थ और विलास का श्रमणों पर अत्यधिक अधिकार हो गया है। इसी के फल स्वरूप जैन धर्म का महत्व एक दम उतर गया। धर्म के नाम पर गरीब और निर्दोष प्रजा पर अत्याचार हो रहा है। कुरूढ़ियें, वहम, अन्ध श्रद्धा और सत्ताशाही आदि से जनता त्रास को प्राप्त हो चुकी। शांति के उपासक श्रमण प्रचण्ड बन गये। समाज सर्व संघ के रक्षक होकर संघ की शक्तियों का भक्षण करने लगे। ऐसी हालत, वह भी धर्म के नाम पर, भला इसे एक सत्य धर्म का उपासक कैसे सहन कर सके? श्रीमान् शाह भी स्वच्छन्दता के ताण्डव को सहन नहीं कर सके। यही कारण है कि उन्होंने स्वच्छन्दता को दूर करने के लिये अपना तन, मन, धन,

सर्वस्व अर्पण कर दिया। क्रियोद्धार में संलग्न होकर विकार को निकाल फेंका। उस समय विरोधी दलने भी तेजी से प्रतिवाद किया, किन्तु अन्त में विजय तो सत्य ही की होती है, यही हुआ। विरोधियों के विरोध के कारण ये हैं— (१) श्रमण वर्ग का शैथिल्य (२) चैत्यवाद का विकार (३) अहंभाव की श्रृंखला। इन विरोधी दलों ने कई ज्योतिर्धरों को निरुत्साही बना दिये थे। कइयों को अपने फंदे में फसा लिया था। और कइयों को पराजित कर दिया था। किन्तु श्रीमान लोंकाशाह इन सब विरोधी दलों को धकेलते हुए रास्ता साफ करते गये। और जैन धर्म को फिर से देदीप्यमान बनाते गये। श्रमणवर्ग के शिथिलाचार का प्रबल विरोध किया, तथा सत्य सिद्धान्तों का प्रचार किया। धन्य है उन धर्म प्राण लोंकाशाह को कि जिन ने धर्म के नाम पर अपने तन, मन, धन और स्वार्थ की बाजी लगा दी, और परार्थवृत्ति धारण कर फिर से जैन धर्म का सितारा चमका दिया। इस प्रकार शिथिलाचार को दूर फेंकने वाले श्रीमान् लोंकाशाह कितने वीर पुरुष थे, उनमें धीरता और गम्भीरता कितनी थी, इस विषय में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। ऐतिहासिक दृष्टि से एक अंग्रेज लेखिका श्रीमान् शाह के विषय में लिखती है कि—

"About A D 1452× The Lonka Sect arose and was followed by the Sthanakwasi Sect, dated which coincide strikingly with the Lutheran and Puritan movements in Europe

[Heart of Jainism]

इस पर से स्पष्ट मालूम होता है कि श्रीमान् लोंका शाह ने हम पर बहुत उपकार किया। हमें ढोंग और धतिंग से बचाया। धर्म निवृत्ति में ही है, इस बात को बताकर बाह्य

आडम्बरों से पिण्ड छुड़ाया। इतनी क्रांति मचा कर भी लोंकाशाह ने अपना मत या सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया। किन्तु सत्य सनातन जैन धर्म के सिद्धान्तों का ही प्रचार किया। उन महानुभाव ने धर्म क्रांति में मूर्ति-पूजा का प्रबल विरोध किया, साधु संस्था का शैथिल्य दूर किया, तथा अधिकारवाद की शृंखला को तोड़ फेंकी। इतना करने पर भी वे एक संकुचित वर्तुल में ही बंधे हुए नहीं रहे, किन्तु विशाल क्षेत्र में पदार्पण किया, और निर्भय होकर धर्म सुधार किया। जिससे धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा रुकी, और अहिंसा धर्म का फिर से उद्योत हुआ। ऐसे अहिंसा धर्म को वृद्धिगत करने वाले वीर पुरुष का नाम लेकर कौन सत्य का पुजारी हर्षित नहीं होगा? आखिर सत्य तो सत्य ही रहता है। फलस्वरूप इन्हीं सिद्धान्तों को मानने वाले लाखों की संख्या में हुए। धर्म को बाह्य रूप नहीं देकर आन्तरिक रूप दिया गया। आडम्बर में धर्म नहीं रह सकता, वहां स्वार्थ की छाया झलकती है। जहां स्वार्थ घुसा नहीं कि परोपकारी वृत्तियों के पैर उखड़े। धर्म प्राण लोंकाशाह ने इन स्वार्थ पोषक सिद्धान्तों का प्रबल विरोध किया, और सत्य को सबके सामने रखा। उस सत्य को स्वीकार न करते हुए मिथ्यावादियों ने अपना प्रलाप तो चालू ही रक्खा, और भोले भाले जीवों को लगे भरमाने, "अरे भाई? मूर्ति-पूजा शाश्वति है। सूत्रों में स्थान स्थान पर मूर्ति पूजा का वर्णन आता है। मूर्ति-पूजा से ही धर्म रह सकता है। हजारों वर्ष पहले की मूर्तियां है" आदि आदि कपोल कल्पित बातें कर कर भोली जनता को भ्रम में डालने लगे। अहा! कितना अन्धेर? कहां महावीर के जमाने में ही मूर्ति-पूजा का अभाव, और कहां हजारों वर्ष? हां, यक्षादिकों की मूर्तियां एवं यक्षा-

यतन शास्त्रों में वर्णित पाये जाते हैं, और प्राचीन मूर्तियां भी मिलती हैं। परन्तु कोई यह कहने का साहस करे कि नहीं, जिन मन्दिर—तीर्थंकर मन्दिर—और मूर्तियां भी थीं, तो यह उसकी केवल अनभिज्ञता है। वास्तव में मूर्ति पूजा का श्री गणेश पहले पहल बौद्ध मतानुयायियों ने ही किया, वह भी बुद्ध निर्वाण के बाद ही, उसमें भी प्रारम्भ में तो बुद्ध के स्तूप, पात्र, धर्मचक्र आदि की पूजा की जाने लगी, तदन्तर बुद्ध की मूर्तिया स्थापित होने लगी। और इन्हीं बौद्धों की देखा देखी जैन धर्मानुयायियों ने भी कुशाण काल में जिन मंदिरों को बनाया, और पूजा प्रतिष्ठा करने लगे।

जैन धर्म निवृत्ति प्रधान एवं आध्यात्मिक भावों का ही द्योतक है, इस बात को भूलकर ऊपरी आडम्बर में ही धर्म २ चिल्लाने वाले कितने शिथिल होगये थे, धर्म के नाम पर क्या २ पाखाड रचे जाने लगे, इनका वर्णन हम श्री हरिभद्र सुरिजी के शब्दों में ही व्यक्त कर आये हैं। यही कारण है कि जैन धर्म के असली प्राण भाव को उसी समय से तिलांजली देदी गई, और पतन का सर्वतो व्यापी बना दिया गया, हमारे कहने का आशय यह है कि जैनियों ने आडम्बर को महत्व देकर लाभ नहीं उठाया, वरन् उल्टा अपना गवा बैठे। श्रीमान् लोंकाशाह ने इन्हीं शिथिलताओं को दूर कर फिर से आडम्बर रहित अहिंसा धर्म को बतलाया, और शास्त्रानुकूल जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया। परन्तु खेद है कि फिर भी वही पुराना दर्रा (अपनी ही ढपली बजाना) चल रहा है कितने ही व्यक्ति अपना अधिकार न समझकर उल्टी बातों का फैलाव करते ही रहे, और वर्तमान में कर भी रहे हैं। इतना ही नहीं सत्य जैन समाज पर अघटित आक्षेप करने से बाज नहीं आते, और अपनी तू तू मैं मैं की

हा हू मचाते ही रहते हैं तथा जनता को धोखे में डालकर अपना स्वार्थ साधते हैं।

प्यारे न्यायप्रिय महाशयों इन प्रेमियों का ताण्डव बढ़ने न पावे और वास्तविक सत्य क्या है इसको जनता भली प्रकार से जानले, इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए श्रीमान् रतनलालजी डोशी सैलाना निवासी ने यह पुस्तक 'लोंकाशाह मत समर्थन' नामक आपके सामने रक्खी है। इसमें उन कुयुक्तियों का ही वास्तविक रीत्या जवाब दिया गया है, जो कि समाज में भ्रम फैलाने वाली एवं बाह्याडम्बर को महत्व देने वाली हैं। अन्त में शिथिलाचार पोषकों ने कैसी २ कपोल कल्पित बातें लिखी हैं इसका दिग्दर्शन भी लेखक ने कराया है। इस पुस्तक को लिखकर श्रीमान् डोशीजी ने स्वधर्म रक्षा की है, और सत्यान्वेषी मुमुक्षुओं को सत्य घटना बताकर धर्म प्राण लोंकाशाह और समस्त स्थानकवासी समाज की सेवा की है। तथा सत्य सिद्धान्तों के प्रति अपनी अटल श्रद्धा व्यक्त कर मिथ्या प्रलाप को जड़ से उखाड़ने की कोशिश की है। एतदर्थ आपको धन्यवाद।

इस पुस्तक के लेखन का अभिप्राय किसी के सिद्धांन्तों पर आक्रमण करना नहीं है, किन्तु मानव जीवन सत्यमय बने और सत्यमार्ग की गवेषणा कर आराधना करे यही है।

अतः पाठकों से निवेदन है कि वे इस पुस्तक को शांत भाव से निष्पक्ष बनकर आद्योपान्त पढ़कर सत्य मार्ग का अवलम्बन करें तथा मिथ्या कुयुक्तियों से अपने को बचाते रहें। इत्यलम् सुज्ञेषु किं बहुना?

अजमेर ता० २१-८-१९३९	शतावधानी पं० मुनिश्री रत्नचन्द्रजी महाराज का चरण किंकर मुनि पूनमचन्द्रः

विषय-सूचि

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

श्री लोंकाशाह मत-समर्थन



चरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते तंजहा-अगार-चरित्तधम्मे चेव, अणगारचरित्तधम्मे चेव ॥

[स्थानांग सूत्र]

अनन्त, अक्षय, केवलज्ञान, केवल दर्शन के धारक, विश्वोपकारी, त्रिलोकपूज्य, श्रमण भगवान श्री महावीर प्रभु ने भव्य जीवों के उद्धार के लिए एकान्त हितकारी मोक्ष जैसे शाश्वत सुख को देने वाले ऐसे दो प्रकार के धर्म प्रतिपादन किये हैं। जिसमें प्रथम गृहस्थ [श्रावक] धर्म और दूसरा मुनि (अणगार) धर्म है।

गृहस्थ धर्म की व्याख्या में सम्यक्त्व, द्वादशव्रत, ग्यारह प्रतिमा, आदि का विस्तृत विचार आगमों में कई जगह मिलता है। प्रमाण के लिए देखिए—

(१) गृहस्थ धर्म की संक्षिप्त व्याख्या आवश्यक सूत्र में इस प्रकार बताई है।

पंचरह्मणुव्वयाणं, तिरहं गुणव्वयाणं ।
चउरहं सिक्खावयाणं, बारसविहस्स ॥

(२) श्रावक जीवन और उसमें दैनिक-प्रासंगिक कर्त्तव्यों का वर्णन—

सूत्रकृतांग श्रु० २ अ० २ सूत्र ७६—

से जहाणामए समणोवासगा भवन्ति अभिगयजीवाजीवा, उवलद्धपुणणपावा, आसवसंवरवेयणा, णिज्जरा, किरियाहि-गरणबन्धमोक्खकुसला, असहेज्जदेवासुरनागसुवन्नजक्खर-क्खसकिन्नरकिंपुरिसगरूलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ, अणइक्कमणिज्जा, इणमेव निग्गंथे पावयणे णिस्संकिया निक्कंखिया, निव्वितिगिच्छा, लद्धट्ठा गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, विणिच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, अट्ठि-मिजपेमाणुरागरत्ता । अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा, अचियत्तंतेउरपरघरपवेसा, चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा समणे णिग्गंथे फासु-एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं, वत्थपडिग्गहकंबलपाय-पुच्छणेणं, ओसहभेसज्जेणं, पीढफलगसेज्जासंथारएणं, पडिलाभेमाणा बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोस-होववासेणं अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं, अप्पाणं भावे-माणा विहरंति ॥७६॥

तेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूहिं वासाहिं समणोवासगपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंमि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइत्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवताए उववत्तारो भवंति तंजहा महड्ढिएसु महज्जुइएसु जाव महासुखेसु सेसं तं चेव जाव एस ठाणे आयरिए जाव एगंतसम्मे साहू ।

(३) योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य ने सम्यक्त्व पूर्वक बारह व्रत का विवेचन किया है, देखो प्रकाश १ अंतिम दश श्लोक से दूसरे प्रकाश तक ।

(४) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में भी श्री हेमचन्द्राचार्य ने प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ स्वामी की देशना का वर्णन करते हुए गृहस्थ धर्म के सम्यक्त्व सहित बारह व्रत की विस्तृत व्याख्या की है।

(५) ऐसे ही उपासकदशांग सूत्र में आदर्श रूप दश श्रावकों के जीवन में उपादेय नैतिक, धार्मिक क्रिया का शिक्षा लेने योग्य विस्तृत इतिहास बताया गया है, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा आदि सूत्रों में भी श्रावक धर्म के पालकों का इतिहास उपलब्ध होता है ।

इस प्रकार जहां कहीं भी श्रावक धर्म का निरूपण और इतिहास मिलता है उसका मतलब सूत्र कृतांग के सदृश ही है। सिवाय इसके गृहस्थ धर्म के विधि नियमादि का उपदेश

कर श्रमण धर्म के लिये विधि विधान बतलाने वाले अनेक शास्त्र हैं, जैसे आचाराङ्ग सूत्रकृताङ्ग, ठाणाङ्ग, समवायाङ्ग, विवाहप्रज्ञप्ति, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि: इन सूत्रों में त्यागी वर्ग के लिये हलन, चलन, गमनागमन, शयन, भिक्षा गमन, प्रतिलेखन, प्रमार्जन, आलाप-संलाप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप- आराधन, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, आदि अनेक आवश्यक अत्यावश्यक, अल्पावश्यक कार्यो की विधि का विधान करने में आया है, यहां तक कि रात्रि को निद्रा लेते यदि करवट फिराना हो तो किस प्रकार फिराना, मल मूत्रादि किस प्रकार परिष्ठापन करना, कभी सूई, कैंची, चाकू या चने की आवश्यकता हो तो कैसे याचना, फिर लौटाते समय किस प्रकार लौटाना, अन्य मार्ग न होने पर कभी एकाध बार नदी पार करने का काम पड़े तो किस प्रकार करना, आदि विधियों का विस्तृत विवेचन किया गया है। छेद सूत्रों में दण्ड विधान किया गया है कि उसमें कितने ही ऐसे कार्यों का भी दण्ड बताया गया है कि जिनका मुनि जीवन में प्राय: प्रसंग भी उपस्थित नहीं होता।

इतने कथन से हमारे कहने का यह आशय है कि परमोपकारी तीर्थंकर महाराज ने जो आगार और अणगार धर्म बताया है, उसमें "मूर्ति-पूजा" के लिए कहीं भी स्थान नहीं है, न मूर्ति-पूजा धर्म का अंग ही है।

हमारे कितने ही मूर्ति-पूजक बन्धु यों कहा करते हैं कि "मूर्ति-पूजा सूत्रों में सैकड़ों जगह प्रतिपादन की गई है" किन्तु उनका यह कथन एकान्त मिथ्या है।

प्रथम तो मूर्ति पूजक गृहस्थ लोगों का यह कथन इनके माननीय धर्म गुरुओं के बहकाने का ही परिणाम है, क्योंकि इनके गुरवर्यों ने सूत्र स्वाध्याय के विषय में श्रावकों को अयोग्य ठहरा कर इनका अधिकार ही छीन लिया है। जिस से कि ये लोग खुद आगम से अनभिज्ञ ही रहते हैं, और गुरुओं से सुनी हुई अपनी अयोग्यता के कारण सूत्र पठन की ओर इनकी रुचि भी नहीं बढ़ती, यदि किसी जिज्ञासु के मन में आगम वाचन की भावना जागृत हो तो भी गुरुओं की बताई हुई अयोग्यता और महापाप के भयसे वे आगम वाचन से वंचित ही रहते हैं, उन्हें यह भय रहता है कि कहीं थोड़ा सा भी आगम पठन कर लिया तो व्यर्थ में महा-पाप का बोझा उठाना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में वे लोग 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' पर ही विश्वास नहीं करे तो करें भी क्या?

इस प्रकार गृहस्थ वर्ग को अन्धकार में रखकर पूज्य वर्ग स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करे इसका मुख्य कारण यही हो सकता है कि यदि श्रावक वर्ग को सूत्र पठन का अधिकार दिया गया, तो फिर सत्यार्थी, तत्त्व गवेषी अभिनिवेष-मिथ्या त्व-रहित हृदय वाले, मुमुक्षुओं की श्रद्धा हमारी प्रचलित मूर्ति पूजा पद्धति को छोड़कर शुद्ध मार्ग में लगजायगी, जिससे हमारी मान्यता, पूजा, स्वार्थ, एवं इन्द्रिय पोषण में भारी धक्का लगेगा। देखिये इन्हीं के विजयानन्द सूरि स्वकृत "अज्ञान तिमिर भास्कर" की प्रस्तावना पृ० २७ पं० ३ में लिखते हैं कि—

'जब धर्माध्यक्षों का अधिक बल होजाता है तब वे ऐसा बन्दोबस्त करते हैं कि—कोई अन्य जन विद्या पढ़े नहीं

लेकर पढ़े तो उसको रहस्य बताते नहीं, मनमें यह समझते हैं कि अपढ़ रहेंगे तो हमको फायदा है, नहीं तो हमारे छिद्र काढ़ेंगे, ऐसे जानके सर्व विद्या गुप्त रखने की तजवीज करते हैं, इसी तजवीज ने हिंदुस्तानियों का स्वतंत्र पणा नष्ट करा और सच्चे धर्म की वासना नहीं लगने दी, और नये२ मतों के भ्रम जाल में गेरा और अच्छे धर्म वालों को नास्तिक कहवाया।

यद्यपि आत्मारामजी का यह आक्षेप वेदानुयायियों पर है किन्तु वे स्वयं अपने शब्दों का कितने अंशों में पालन करते थे, इसका निर्णय इन्हीं के बनाये 'हिंदी सम्यक्त्व शल्योद्धार' चतुर्थ वृत्ति के 'श्रावक सूत्र न पढ़े' शीर्षक प्रकरण से हो सकता है, इस प्रकरण में आप एकान्त निषेध करते हैं। कुछ भी हो पर स्वामीजी का कारण तो सत्य था सो अज्ञान तिमिर भास्कर में बता ही दिया, उन्हीं के शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने स्वार्थ पर कुठाराघात होने के कारण ही श्रावकों को सूत्र पठन में अनधिकारी घोषित किया गया है।

१-श्रावक सूत्र पढ़ सकता है या नहीं? यह विषय एक स्वतंत्र निबन्ध की आवश्यकता रखता है। यहां विषयान्तर के भय से उपेक्षा की जाती है।

इतना होते हुए भी जो इने गिने पढ़े लिखे आगम वांचक व्यक्ति हैं वे अपने गुरुओं के कथन को असत्य मानते हुए भी उनके प्रभाव में आकर तथा दुराग्रह के कारण पकड़ी हुई

हठ को छोड़ते नहीं हैं। पंडित बेचरदासजी जैसे तो विरले ही होंगे जो इस विषय में गुरुओं की परवाह नहीं करते हुए सूत्रों का अध्ययन मनन करके मू० पू० विषयक सत्य हकीकत प्रकट कर अज्ञान निद्रा में सोई हुई जनता के समक्ष सिद्ध कर दिखाई उसका भाव यह है कि--

"मूर्ति-पुजा आगम विरुद्ध है। इसके लिये तीर्थंकरो ने सूत्रो में कोई विधान नहीं किया। यह कल्पित पद्धति है"।

देखो—'जैन साहित्यमां विकार थवा थी थयेली हानि' या हिंदी में 'जैन साहित्य में विकार'।

इस सत्य कथन का दण्ड भी पंडितजी को भोगना पड़ा मूर्ति-पूजक समाज ने आपका बहिष्कार कर दिया, शाब्दिक बाण वर्षा की झड़ी लग गई, सद्भाग्य से पंडितजी के मूल्य वान शरीर पर आक्रमण नहीं हुआ, इसलिए यदि कोई सत्य विचार रखते भी हैं तो सामाजिक भय से सत्य समझते हुए भी प्रकट करते डरते हैं।

इत्यादि पर से यह स्पष्ट होगया कि--हमारे ये भोले भाई गुरुओं के पढ़ाये हुए तोते हैं, इसलिए शास्त्रज्ञान से प्राय: अनभिज्ञ इन बन्धुओं को कुछ भी नहीं कहकर इनके गुरुओं की दलीलों को ही कसौटी पर कसकर विचार करेंगे जिससे पाठकों को यह मालूम हो जाय कि-इनकी युक्ति और प्रमाणों में कितना सत्य रहा हुआ है। पाठकों की सरलता के लिए हम इनकी दलीलों का प्रश्नोत्तर रूप मे समाधान करते हैं।

१-द्रौपदी

प्रश्न—द्रौपदी ने जिन प्रतिमा की पूजा की है जिसका कथन 'ज्ञाता धर्म कथांग' में है और वह श्राविका भी यह उसके 'णमोत्थुणं' पाठ से मालूम होता है, इससे मूर्ति-पुजा करना सिद्ध होता है. फिर आप क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—द्रौपदी के चरित्र का शरण लेकर मूर्ति-पूजा सिद्ध करना, वस्तु स्थिति की अनभिज्ञता, और आगम प्रमाण की निर्वलता जाहिर करना है। यहां असलियत को स्पष्ट करने के पूर्व पाठकों की सरलता के लिए 'जिन' शब्द का अर्थ और उसकी व्याख्या करदेना उचित समझता हूं।

जिन शब्द के मूर्ति-पूजक आचार्य श्री हेमचन्द्रजी ने निम्न चार अर्थ किये हैं।—

१. तीर्थंकर २. सामान्य केवली ३. कंदर्प कामदेव ४. नारायण हरि। (हेमीनाम माला)

(१) तीर्थङ्कर-वाह्य और अभ्यंतर शत्रुओं को जीतने वाले अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त बल के धारक, देवेन्द्र नरेन्द्रादि के पूजनीय, ३४ अतिशय ३५ वाणी अतिशय के धारक, विश्व वंद्य, साधु आदि चार तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थङ्कर प्रथम 'जिन' हैं।

(२) सामान्य केवली–बाह्याभ्यन्तर शत्रुओं से रहित, अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय के धारक, कृतकृत्य केवली महाराज द्वितीय 'जिन' हैं।

ये दोनों प्रकार के 'जिन" भाव 'जिन' हैं। इनके शरण में गया हुआ प्राणी संसार सागर को पार कर मोक्ष के पूर्ण सुख का भोक्ता बन कर जन्म मरण से मुक्त होता है।

कंदर्प (कामदेव)–यह तीसरा दिग्विजयी 'जिन' है, जिसमें देव, दानव, इन्द्र, नरेन्द्र, व मनुष्य, पशु, पक्षी, सभी को अपने आधीन में रखने की शक्ति है।

इस देव के प्रभाव से बड़े २ राजा महाराजाओं के आपस में युद्ध हुए हैं। रावण, पद्मोत्तर, कीचक, मदन रथ, आदि महान नृपतिओं के राज्यों का नाश कर उन्हें नर्क गामी बनाया है। बड़े २ ऋषि मुनियों के वर्षों के तप संयम को इस कामदेव ने इशारे मात्र से नष्ट कर उन्मार्ग गामी बना डाला है। नन्दीसेण जैसे महात्मा को इस जिन देव ने अपने एक ही झपाटे में धराशायी कर अपना पूर्ण आधिपत्य जमा दिया, इसी विश्वदेव की प्रेरणा से ही तो एक तपस्वी साधु विशाल नगरी के नाश का कारण बना। इस देव की लीला ही अवर्णनीय है। यह बड़े २ उच्च कुल की कोमलांगियों के कुल गौरव का नाश करते शरमाता नहीं, अनेक महा सतियों को इस जिन देव की कृपा से प्रेरित हुए नरपिशाचों द्वारा भयङ्कर कष्ट सहन कर दर दर मारी मारी फिरना पड़ा। समाज का अपमान सहन कर अनेक प्रकार की यातनायें

सहन करना पड़ी। बड़े २ उच्च खानदानी युवकों को वेश्या-गामी, परदार-व्यसनी, बना कर घर २ भीख मांगते इसी ने तो बनाये हैं। आज भारत की अधो-गति, वल, वैभव, उच्च संस्कृति का नाश यह सभी इसी जिन-देव के कृपा कटाक्ष का फल है।

पुराणों की इन्द्र, चन्द्र, नरेन्द्र, महेश, गौतमऋषि आदि की कलंक कथाएं भी इसी देव की कृपा का परिणाम है।

वर्तमान समय में भी पुनर्विवाह की प्रथा अनेक हिन्दुओं का मुसलमान, ईसाई, आदि वन जाना कन्या-विक्रय, वृद्ध-विवाह, भ्रूण-हत्या, आदि का होना इत्यादि जितनी भी गुण गाथाएं इस विश्वदेव की गाई जाय उतनी थोड़ी है। इस तरह यह कामदेव भी तृतीय श्रेणी का 'जिन' है।

(४) नारायण (वासुदेव)–तीन खण्ड के विजेता अपने वाहुवल से अनेक युद्धों में अनेक महारथियों को पराजित कर सम्पूर्ण तीन खण्ड में निष्कंटक राज्य करने वाले ऐसे वासुदेव भी चौथी श्रेणि के 'जिन' है[१]।

यह तीसरी और चौथी श्रेणि के जिन द्रव्य जिन हैं। इनसे संसार के प्राणियों का उद्धार नहीं हो सकता। तृतीय श्रेणि का जिन तो तीनों लोक बिगाड़ता है, और जितना प्रभाव अन्य तीन जिन देवों का नहीं उतना इस कामदेव जिन का है, इसके आश्रय में जितने प्राणी हैं उतने अन्य तीनों जिन के नहीं।

नोट—[१] बुद्ध को भी जिन कहा गया है। सूत्रों में अवधिज्ञानी, मनपर्ययज्ञानी को भी जिन कहे हैं।

जिन शब्द की इतनी व्याख्या कर देने के बाद द्रौपदी के कथन में वास्तविकता क्या है, यह बताया जाता है।

द्रौपदी का वर्णन ज्ञाता धर्मकथाङ्ग सूत्र के १६वें अध्ययन में विस्तार पूर्वक आता है, जिसका संक्षिप्त सार यह है कि द्रौपदी ने सर्व प्रथम नागश्री के भव में धर्म-रुचि नामक महान् तपस्वी को मास खमण के पारणे में भिक्षा के समय कड़वी तुम्बी का हलाहल विष समान शाक जान बूझकर बहिराया। और इस तरह उन महान तपस्वीराजके जीवनान्तमें कारण बनी, फल स्वरूप जन्मजन्मान्तर में अपरिमित दुख सहती हुई मनुष्य भव में आई, शास्त्र में स्पष्ट बताया है कि—सुकुमालिका (द्रौपदी का जीव) चारित्र की विराधक हो गई और एक वेश्या को पाच पुरुषों के साथ क्रीड़ा करती देखकर उसने ऐसा निदान कर लिया कि-'यदि मेरी तपश्चर्या का फल हो तो भविष्य में मुझे भी पाच पति मिले, और मै उनके साथ आनन्द क्रीड़ा करूं' ऐसा निदान करके आलोचना प्रायश्चित लिये विना ही मृत्यु पाकर स्वर्ग में गई, वहा से फिर द्रौपदी पने में उत्पन्न हुई। यौवनावस्था प्राप्त होने पर पिता ने उसके पाणिग्रहण के लिए स्वयंवर की रचना की, अनेक राजा, महाराजा आदि एकत्रित हुए। तब पूर्व कृत निदान के प्रभाव से विलास की भावना वाली द्रौपदी युवती ने स्वयम्वर में जाने के लिए स्नानादि कर वस्त्राभूषणों से शरीर को अलंकृत किया फिर जिन घर में जाकर जिन प्रतिमा की पूजा करके स्वयंवर मण्डप मे गई और वहा अन्य सब राजा, महारा-

जाओं को छोड़कर निदान के प्रभाव से पाण्डु पुत्र के गले में वर माला डालकर पांच पति की पत्नि बनी आदि।

इस कथानक पर से यह घटित होता है कि द्रौपदी ने जिस जिन प्रतिमा की पूजा की थी वह जिन प्रतिमा, पाठकों के पूर्व परिचित उस तीसरी श्रेणि के जिन (कामदेव) की ही मूर्ति होनी चाहिये। निम्नोक्त हेतु इसको सिद्ध करते हैं—

(अ) जिन प्रतिमा पूजा के समय द्रौपदी जैन धर्मिणी (श्राविका) नहीं थी, और निदान पूर्ति के पूर्व वह श्राविका भी नहीं हो सकती है, न सम्यक्त्व ही पा सकती है, क्योंकि निदान प्रभाव ही ऐसा है। यदि द्रौपदी के निदान को मन्द रस का कहा जाय तो मन्दरस वाला निदान भी पूरा हुए विना अपना प्रभाव नहीं हठा सकता, और द्रौपदी की निदान पूर्ति होती है पाणिग्रहण के पश्चात्, अतएव पाणिग्रहण के पूर्व द्रौपदी में सम्यक्त्व का होना एकदम असम्भव मालूम होता है। खास सूत्र में भी स्वयम्वर मण्डप में आते समय द्रौपदी पर निदान का असर बताने वाला मूल पाठ स्पष्ट रूप से मिलता है, देखिये—

"पुव्वकय णियाणेणं चोइज्जमाणी"

जब मूर्ति-पूजा के पश्चात् भी द्रौपदी के लिए सूत्रकार 'पूर्व-कृत निदान से प्रेरित हुई' लिखते हैं तो पहले पूजा के समय उस परसे निदानके प्रभावसे हटकर सम्यक्त्व को कैसे प्राप्त हो गई? विज्ञ पाठक इस पर जरा मनन करें कि जब सम्यक्त्व ही जिसमें नहीं है तो वह तीर्थङ्कर को आराध्य देव कैसे मान सकता है? अतएव यह स्पष्ट हुआ कि द्रौपदी की प्रतिमा पूजा तीर्थङ्कर मूर्ति की पूजा नहीं हो सकती।

निदान ग्रस्त के सस्कार ही ऐसे वन जाते हैं कि जिनके प्रभाव से जब तक इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो जाय तब तक वह उसी विचार और उधेड़ बुन में लगा रहता है। यहां द्रौपदी के हृदय में निदान प्रभाव से विलासिता की पूरी आकाक्षा थी, अखण्ड भोग प्राप्त करना ही जिसका मुख्य लक्ष्य था, बस इसी ध्येय को लक्ष्य कर द्रौपदी ने अपनी यह इच्छा पूर्ण करने को ऐसे ही देव की मूर्ति की पूजा की। उसे उस समय बस केवल इसी की आवश्यकता थी।

यदि द्रौपदी उस समय श्राविका ही होती, तो वह पांच पति क्यों वरती? अगर पाच पति से पाणिग्रहण करने में उस पर निदान प्रभाव कहा तो पूजा के समय जो कि स्वयंवर के लिए प्रस्थान करते समय की थी, निदान प्रभाव कहां चला गया? इस पर से यह सत्य निकल आता है कि द्रौपदी की पूजी हुई मूर्ति तीर्थङ्कर की नहीं होकर कामदेव ही की थी। सौभाग्य एवं भोग जीवन की सामग्री की पूर्णता एवं प्रचुरता ऐसे ही देव से चाही जाती है।

(आ) विवाह के समय द्रुपद राजा ने मद्य, मास का आहार बनवाया था, यह द्रौपदी के परिवार को ही अजैन होना बता रहा है। इस पर से भी द्रौपदी के श्राविका नहीं होने का ही अनुमान ठीक मिलता है।

(इ) द्रौपदी के विवाह पश्चात् उसका पांच पति रूप निदान पूर्ण होकर सम्यक्त्व की बाधा भी दूर हो जाती है, और विवाह बाद के वर्णन से ही द्रौपदी का श्राविका होना पाया जाता है, लग्न पश्चात् के जीवन में ही व्रत नियम,

तपश्चर्या का कथन है। संयमाराधन का भी इतिहास मिलता है, किन्तु लग्न के बाद से लेकर संयमाराधन और अंतिम अनशन के सारे जीवन विस्तार में कहीं भी मूर्ति-पूजा का उल्लेख खोज करने पर भी नहीं मिलता है। यदि मूर्ति-पूजा धार्मिक करणी में मानी गई होती तो उसका वर्णन भी धार्मिक करणी के साथ अवश्य मिलता। इस पर से भी धार्मिक कृत्यों में मूर्ति-पूजा की उपादेयता सिद्ध नहीं हो सकती।

इसके सिवाय द्रौपदी के प्रतिमा पूजा के प्रकरण में 'णमोत्थुणं' और सूर्याभदेव की साक्षी के पाठ होने का भी कहा जाता है किन्तु यह पाठ मूल का होना सिद्ध नहीं हो सकता, कारण प्राचीन हस्त लिखित प्रतिओं में उपरोक्त नमोत्थुणं आदि पाठ का नहीं होना है. और आचार्य अभयदेव सूरि ने भी इस बात को स्वीकार कर वृत्ति में स्पष्ट कर दिया है, आचार्य अभयदेवजी का समय बारहवीं श० का है जब से १६ वीं और १७वीं शताब्दी तक की प्रतिओं में प्रायः—

"जिण पडिमाणं अच्चणं करेई"

इतना ही पाठ मिलता है। स्वयं इस लेखक ने भी दिल्ली में श्रीमान् लाला मन्नूलालजी अग्रवाल के पास बहुत प्राचीन और जीर्ण अवस्था में ज्ञाता धर्म कथा की एक प्रति देखी, उसमें भी केवल उक्त पाठ ही है। इसी प्रकार किशनगढ़ में भी एक प्रति उक्त प्रकार के ही पाठ को पुष्ट करने वाली है। टीकाकार श्री अभयदेवजी भी मूल पाठ में केवल उक्त वाक्य को स्थान देकर बाकी के पाठ को वाचनान्तर में होना बताते हैं, देखिये—

'जिणपडिमाणं अच्चणं करेइत्ति—एकस्यां वाचनाया मेतावदेव दृश्यते, वाचनान्तरेतु"

इस प्रकार मूल पाठ को इतना ही स्वीकार कर वाचनान्तर में अधिक पाठ होना माना है। इससे अनुमान होता है कि-द्रौपदी के अधिकार में णमोत्थुणं आदि अधिक पाठ इस जिन प्रतिमा को तीर्थङ्कर प्रतिमा सिद्ध करने के अभिप्राय से किसी शकाशील प्रति लेखक ने बढ़ा दिया हो, और वह पाठ सर्व मान्य नहीं है यह स्पष्ट है।

इतने विवेचन पर से यह अच्छी तरह सिद्ध होगया कि लग्न प्रसग पर निदान के प्रभाव से मिथ्यात्व वाली द्रौपदी से पूजी हुई जिन प्रतिमा तीर्थङ्कर की मूर्ति नहीं हो सकती ऐसे प्रकरण पर से मूर्ति-पूजा को धार्मिक व उपादेय समझना अनुचित है। स्वय टीका-कार भी द्रौपदी के इस पूजा प्रकरण में लिखते हैं कि—

'नच चरितानुवादवचनानि विधि निषेध साधकानि भवति'

ऐसी अवस्था में कथानक की ओट लेकर विधिमार्ग में प्रवृत्त होने वाले और व्यर्थ के आरभ समारभ कर आत्मा को अनर्थ दण्ड में डालने वाले बन्धु वास्तव में दया के पात्र हैं।



२—"सूर्याभ देव" ।

प्रश्न—सूर्याभदेव ने जिन प्रतिमा की पूजा की ऐसा राजप्रश्नीय सूत्र में लिखा है, इससे मूर्ति-पूजा करना सिद्ध होता है, फिर आप क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—सूर्याभदेव के चरित्र की ओट लेकर मूर्ति-पूजा में धर्म बताना मिथ्या है ।

सूर्याभ की मूर्ति पूजा से तीर्थंकर की मूर्ति पूजा करना ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि—

तत्काल के उत्पन्न हुए सूर्याभदेव ने अपने सामानिक देव के कहने से परंपरा से चले आते हुए जीताचार का पालन किया है । और जिन प्रतिमा के साथ २ नाग, भूत प्रतिमा जो कि—उससे हल्की जाति के देवों की है उनकी और अन्य जड़ पदार्थ—द्वार, शाखा, तोरण, बावड़ी नागदन्ता आदि की पूजा की है, सूर्याभ को उस समय जीताचार के अनुसार वैसे भी काम करने थे जो उससे पहले वहां उत्पन्न होने वाले सभी देवों ने किये थे उसका यह कार्य धर्म बुद्धि से नहीं था ।

दूसरा—सूर्याभ की पूजी हुई प्रतिमा तीर्थंकर प्रतिमा ही है इसमें कोई प्रमाण नहीं, कारण वहां बताई हुई प्रतिमाए शास्वत हैं, जिसकी आदि और अन्त नहीं, और तीर्थंकर शाश्वत नहीं हो सकते (यद्यपि तीर्थंकरत्व शास्वत है किंतु अमुक तीर्थङ्कर शास्वत है यह नहीं हो सकता। क्योंकि—वे जन्मे हैं इसलिये उनकी आदि और अन्त है, देवलोक में बताई हुई ऋषभ, वर्द्धमान, चन्द्रानन, वारिसेन इन चार नाम वाली मूर्तिए शास्वत होने से तीर्थङ्करों की नहीं हो सकती। यह तो देवताओं की परम्परा से चली आती हुई कुल, गौत्र, या ऐसे ही किसी देव विशेष की मूर्ति हो सकती है, क्योंकि-जहा प्रतिमाओ का नाम है वहां पृथक २ देवलोक में होते हुए भी सभी जगह उक्त चारों नाम वाली ही मूर्तिए बताई गई है। यदि ये मूर्तिए तीर्थङ्करो की होती तो इन चार नामों के सिवाय अन्य नाम वाली और अशास्वती भी होनी चाहिये थी, हां यदि तीर्थङ्कर केवल चार ही होते तब तो वे मूर्तिए तीर्थंकर की कभी मानी भी जा सकती, किंतु तीर्थंकर की संख्या हरएक काल-चक्र के दोनों विभागों में चौवीस से कम नहीं होती, अतएव देवलोक की मूर्तिएं तीर्थंकरों की होना सिद्ध नहीं हो सकती।

सूर्याभ के इस कृत्य को धार्मिक कृत्य कहने वालों को निम्न शर्तों पर ध्यान देना चाहिये--

(अ) जिन प्रतिमा के साथ द्वार, तोरण, ध्वजा, पुष्करणी आदि को पूज कर सूर्याभ ने किस धर्म की आराधना की?

(आ) सूर्याभ के पूर्व भवमें प्रदेशी राजा का जीव कितना क्रूर, हिंसक और नर्क गति की ओर लेजाने वाले कर्म करने वाला था, यदि ये ही कृत्य चालू रहते तो अवश्य उसे नारकीय यातनाएं सहन करनी पड़ती। किन्तु जीवन के उत्तर विभाग में श्रीमान् केशीकुमार श्रमण के उपदेश से उसने धर्माराधन, तपश्चर्या, परिग्रहसहन, अन्तिम संलेहणा आदि क्रियाओं द्वारा संचित पाप पुंज का नाश कर पुण्य का प्रबल भंडार हस्तगत किया, क्या इस पाप पुंज संहारिणी और पुण्य उदय करने वाली करणी में कहीं मूर्ति-पूजा का भी नाम निशान है ?

(इ) सूर्याभ ने उत्पन्न होकर मूर्ति-पूजा की, उसके बाद भी कभी नियमित रूप से उसने पूजा की है क्या ? क्योंकि धार्मिक कृत्य तो सदैव किये जाने चाहिये, जैसे सामायिक प्रतिक्रमण आदि, पूर्व समय के श्रावक प्रति दिन धार्मिक कृत्य करते थे इसका वर्णन सूत्रों में पाया जाता है। इसी तरह यदि मूर्ति-पूजा को भी धार्मिक क्रिया में स्थान होता तो किसी न किसी स्थान पर एक भी श्राद्धवर्य के जीवन वर्णन में उल्लेख अवश्य मिलता। इसी प्रकार मूर्ति पूजा यदि धार्मिक करणी होती तो सूर्याभ सदैव इस क्रिया को करता, खास २ प्रसंग पर तो कुल रिवाज अथवा जीताचार ही पाला जाता है।

(ई) सूर्याभ का दृढ़ प्रतिज्ञ कुमार रूप अन्तिम भव है उसमें चारित्र धर्म की आराधना कर मुक्ति प्राप्त करने का वर्णन है, उसमें भी कहीं मूर्ति-पूजा का कथन है क्या ?

जब हमारे मूर्ति-पूजक बंधु इन बातों पर विचार करेंगे तब उन्हें भी विश्वास होगा कि-मूर्ति पूजा को धर्म कहना मिथ्या है।

सूर्याभ की यह करणी जीताचार की थी, धर्माचार (आत्मोत्थान) की नहीं। वर्तमान में भी राजा महाराजा विजया दशमी को कुलदेवी, तलवार, बन्दुक, तोप, घड़ियाल नकारे, निशान, हाथी, घोड़ा आदि की पूजा करते हैं, यह सभी कृत्य परपरा से चले आते हुए रिवाज में ही सम्मिलित हैं। सम्यक्त्वी श्रावक भी दीपावली पर वही, दवात, कलम, धन, सुपारी के बनाये हुए गणेश, कल्पित लक्ष्मी आदि की पूजा करते हैं, ये सभी कार्य सासारिक पद्धति के अनुसार है, इसमें धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। न कोई सम्यक्त्वी ऐसी क्रियाओं में धर्म मानते ही है। इस प्रकार के लौकिक कार्य पूर्व समय में वड़े २ श्रावकों ने भी किये है, उनमें भरतेश्वर, अरहन्नक श्रावक आदि के चरित्र ध्यान देने योग्य हैं ऐसे सांसारिक कृत्यों को धर्म कहना, या इनकी ओट लेकर निरर्थक पाप वर्द्धक क्रिया में धर्म होने का प्रमाणित करना, जनता को धोखा देना है।

यदि थोड़ी देर के लिए हम हमारे इन भोले वन्धुओं के कथनानुसार देवलोक स्थित मूर्तियों को तीर्थङ्कर मूर्ति मान लें तो भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती, क्यों कि— जिस प्रकार वर्तमान समय में आदर्श नेताओं के चित्र मूर्तिए स्मारक रूप में बनाये जाते हैं, बम्बई में स्वर्गीय विट्ठलभाई पटेल की प्रतिमा है, महाराणी विक्टोरिया की

मूर्ति बड़े २ शहरों में रही हुई है, इसी प्रकार महत्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, गोखले आदि के हजारों की संख्या में चित्र तथा कहीं २ किसी की मूर्ति भी दिखाई देती है, कई देशी राज्यों में राजाओं के पुतले (मूर्तियें) बड़ी सजधज के साथ बगीचों (गार्डनों) में रक्खे हुए मिलते हैं, ये सभी स्मारक हैं, माननीय पुरुषों की यादगार में बने हैं, इसी प्रकार जगत हितकर्त्ता विश्वोपकारी. देवेन्द्र नरेन्द्रों के पूजनीय, अनन्तज्ञानी प्रभु की मूर्तिएं भक्तों द्वारा बनाई जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जब हम सभी कलाओं के साथ चित्र कला को भी अनादि मानते हैं और देवों की कला कुशलता विशिष्ठ प्रकार की कहते हैं । तो फिर महान् ऐश्वर्यशाली देव जो प्रभु के उत्कृष्ट रागी और भक्त हैं वे यदि उनकी हीरे जवाहिरात की भी मूर्ति बनवालें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है । जो जिसे आदरणीय मानता है वह उसकी यादगार में उसका चित्र बनावे या बनवाले यह स्वाभाविक है, किन्तु ये सभी स्मारक में ही गिने जाते हैं, इसमें धार्मिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है । ऐसे कृत्यों में धर्म समझकर अमित द्रव्य व्यय और अगणित त्रस, स्थावर जीवों का विनाश कर डालना, केवल मूर्खता ही है । यदि मूर्ति-पूजक पं० बेचरदासजी के शब्दों में कहा जाय तो धार्मिक विधानों की सिद्धी किसी कथा की ओट लेकर नहीं हो सकती, उनके लिए विधि वाक्य ही होने चाहिए, इसलिए धर्म के मुख्य अङ्ग कहे जाने वाले कार्य के लिए कोई खास विधि का प्रमाण नहीं बताकर किसी कथा की ओट लेना और उसके भाव को तोड़ मरोड़ कर मनमानी खींचतान करना यह अपने पक्ष कोही कल्पित और असत्य सिद्ध करना है ।

कथानक के पात्र स्वतंत्र हैं, वे अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं, उनके किये कार्य सभी के लिए सर्वथा उपादेय नहीं हो सकते, और विधि विधान जो होता है वो सभी के लिए समान रूप से उपादेय होता है, उसके लिए खास शब्दों में कथन किया जाता है। अमुक कार्य इस प्रकार करना ऐसा स्पष्ट वाक्य विधि में गिना जाता है। जिस प्रकार मूर्ति पूजक आचार्यों ने मूर्ति पुजा किस प्रकार करना, किस समय किस सामग्री से करना इस विषय में ग्रन्थों के पृष्ठ के पृष्ठ भर डाले हैं, इसी प्रकार यदि गणधरोक्त उभयमान्य सूत्रों में भी कहीं बताया गया होता या केवल इतना भी कहा गया होता कि—'श्रावकों को मूर्ति-पूजा करना चाहिये, मुनिओं को दर्शन यात्रा आदि करना व उस संबन्धी उपदेश देना चाहिए, संघ निकलवाना चाहिए, आदि कथन होता तो ये लोग सर्व प्रथम ऐसा प्रमाण बड़े २ अक्षरों में रखते किन्तु जब सूत्रों में ही नहीं तो लावे कहां से ? अतएव सूत्रों में मूर्ति पूजा का विधान होने का कहना और सूर्याभ के कथानक की अनुचित साक्षी देना मृषावाद और हिंसावाद के पोषण करने समान है। समझदारों को चाहिए कि वे निष्पक्ष बुद्धि से विचार कर सत्य को ग्रहण करें।



३—"आनन्द श्रावक"

प्रश्न—आनन्द श्रावक ने जिन प्रतिमा वांदी है, ऐसा कथन "उपासक दशांग" में है, इस विषय में आपका क्या कहना है?

उत्तर—उक्त कथन भी असत्य है, उपासकदशांग में आनन्द के जिन प्रतिमा वन्दन का कथन नाम मात्र को भी नहीं है, यह तो इन बन्धुओं की निष्फल (किन्तु अन्ध श्रद्धालुओं में सफल) चेष्टा है, ये लोग मात्र वहां आये हुए 'चैत्य' शब्द से ही मूर्ति वन्दने का अडंगा लगाते हैं, जो कि सर्वथा अनुचित है। यह शब्द किस विषय में और किस अर्थ को बताने में आया है पाठकों की जानकारी के लिए उस स्थल का वह पाठ लिखकर बताया जाता है—

नोखलुमेभंते कप्पईअज्जप्पभिइंअन्नउत्थिएवा अण्णउत्थियदेवयाणिवा, अण्णउत्थियपरिग्गहियाणिवा चेइयाइ, वंदित्तएवा, णमंसित्तएवा, पु-

विंग्रताणतेणं आलवित्तएवा, संलवित्तएवा, तेसिं असणंवा, पाणंवा, खाइमंवा, साइमंवा, दाउंवा अणुप्पदाउंवा'।

अर्थात—इसमें आनन्द श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि-निश्चय से आज पश्चात मुझे अन्य तीर्थिक, अन्य तीर्थ के देव, और अन्य तीर्थी के ग्रहण किये हुए साधु को वंदन नमस्कार करना, उनके बोलाने से पूर्व बोलना, वारंवार बोलना, असण, पाण, खादिम, स्वादिम, देना, बारबार देना, यह नहीं कल्पता है।

अब कल्पता क्या है सो कहते हैं—

'कप्पइ मे समणेणिग्गन्थे फासूएणं ऐसणिज्जेणं, असण, पाण, खाइम, साइम, वत्थ, पडिग्गह, कवल, पादपुच्छणेणं, पीढ, फलग, सिज्जा, संथारेणं, ओसह, भेसज्जेणं, पडिलाभेमाणे विहरित्तए'।

अर्थात्—आनन्द श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि—मुझे श्रमण निर्ग्रंथ को प्रासुक एषणिक असण पाण, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पात्रपुच्छना, पीठ, फलक, शया, सथारा, औषधि, भेषज्य प्रतिलाभते हुये विचरना कल्पता है। यहां आनन्द श्रावक सम्बन्धी कल्पनीय तथा अकल्पनीय विषयक दोनों पाठ दिये गये हैं, इस पर से मूर्तिपूजा कैसे सिद्ध हो सकती है? मूर्तिपूजक लोग अर्वाचीन प्रतिओं

में निम्न रेखांकित शब्द बढ़ाकर कहते हैं कि-आनन्द श्रावक ने जिन प्रतिमा वांदी है। बढ़ाया हुआ शब्द सम्बन्धित वाक्य के साथ इस प्रकार है—

'अरण उत्थि परिग्गहियाणि 'अरिहंत' चेइयाइं'

उक्त पाठ में रेखांकित अरिहंत शब्द अधिक बढ़ाकर इस शब्द से यहां यह अर्थ करते हैं कि—

'अन्य तीर्थियों के ग्रहण किये हुए अरिहन्त चैत्य-जिन प्रतिमा' (इसे वन्दन नहीं करूं)

इस तरह ये लोग पाठ बढ़ाकर और उसका मनमाना अर्थ करके उससे मूर्तिपूजा सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु इस प्रकार की चालाकी सुज्ञ जनता में अधिक देर नहीं टिक सकती, क्योंकि समझदार जनता जब प्राचीन प्रतियों का निरीक्षण करके उनमें बढ़ाया हुआ अरिहंत शब्द नहीं देखेगी तो आपकी चालाकी एक दम पकड़ी जा सकेगी, क्योंकि प्राचीन प्रतियों में यह अरिहंत शब्द है ही नहीं। इसके सिवाय—

(अ) एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से प्रकाशित उपासकदशांग की प्रति में तो 'अरिहंत-चेइयाइं' शब्द नहीं है और उसके अंग्रेजी अनुवादक ए० एफ० रुडोल्फ होर्नल साहब ने अनेक प्राचीन प्रतियों पर से नोट में ऐसा लिखा है कि—

'चैत्य और अरिहंत चैत्य शब्द टीका में से लेकर मूल में मिला दिया है, जिस टीका में लिखा है कि—पूजनीय अरिहंत देव या चैत्य है।'

(आ) मूर्तिपूजक विद्वान प० बेचरदासजी ने 'भगवान महावीरना दश उपासको' नामक पुस्तक लिखी है जो कि— उपासगदशांग का भाषानुवाद है उन्होंने भी उक्त पाठ के अनुवाद में पृ० १४ के दूसरे पेरे में उक्त एशियाटिक सोसायटी की प्रति के समान ही 'अरिहत चैत्य' रहित पाठ मान कर भाषान्तर किया है। देखिये—

'आजथी अन्य तीर्थिकों ने, अन्य तीर्थिक देवताओं ने, अन्य तीर्थि के स्वीकारेला ने, वन्दन अने नमन करवुं मने कल्पे नही ' आदि।

उपरोक्त विचार से यह सिद्ध हो गया कि-पीछे के किसी मूर्ति पूजक लेखक ने आदर्श श्रावकों को मूर्ति पूजक सिद्ध करने के लिये ही 'अरिहत' शब्द को मूल में प्रक्षिप्त कर अपने श्रद्धालु भक्तों को भ्रम में डाला है, किन्तु इतना कर लेने पर भी इनकी इष्ट सिद्धि तो नहीं हो सकी, क्योंकि इस मे निम्न कारण विचारणीय है—

(क) श्रावक महोदय ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा में कहा कि मुझे अन्य तीर्थी आदि को वन्दनादि करना उनको चारो तरह का आहार देना तथा बिना बोलाये उनसे बोलना, बार-बार बोलना ऐसा मुझे नहीं कल्पता है, इससे यह सिद्ध होता है कि-इस प्रतिज्ञा का सम्बन्ध मनुष्यो से ही है, आहारादि देना, दिलाना, पहले बोलना, अधिक बोलना ये क्रियाएँ मनुष्यों के साथ ही की जा सकती है किसी जड़ मूर्ति के साथ नहीं।

(ख) यदि चैत्य शब्द से सूत्रकार को मूर्ति अर्थ इष्ट होता तो खान, पान आदि क्रियाओं के साथ साथ पूजा,

प्रतिष्ठा, धूप, दीप, नैवेद्य आदि वस्तुओं का भी निर्देश किया जाता क्योंकि-मूर्ति-पूजा के काम में यही वस्तुएँ उपयोगी होती हैं। अशन पान अलाप संलाप से मूर्ति का तो कोई सम्बन्ध ही नहीं हो सकता।

(ग) कल्प सम्बन्धो दूसरी प्रतिज्ञा में तो साधु के सिवाय अन्य किसी का भी नाम नहीं है। न वहां चैत्य शब्द का उल्लेख है। यदि सूत्रकार या श्रावक महोदय को मूर्ति-पूजा इष्ट होती तो इस विधि प्रतिज्ञा में उसके लिये भी कुछ न कुछ स्थान अवश्य होता।

अतएव सिद्ध हुआ कि हमारे मूर्ति पूजक बन्धुओं ने जो अपने मनमाने शब्द और अर्थ लगाकर आनन्द श्रावक को मूर्ति पूजक कहने की धृष्टता की है वह सर्वथा हेय है। इन भोले भाइयों को अपने ही मान्य विजयानन्दसूरि (जो कट्टर मूर्ति पूजक थे) के निम्न कथन पर ध्यान देकर विचार करना चाहिये। आपने मूर्तिपूजा के मंडन में साधुमार्गियों की निंदा करते हुये 'सम्यक्त्व शल्योद्धार हिन्दी की चतुर्थावृत्ति में 'आनन्द श्रावक जिन प्रतिमा वादी है' इस प्रकरण में पृष्ठ ८५ पंक्ति १ से लिखा है कि—

'यद्यपि उपाशकदशांग में यह पाठ नहीं है' क्योंकि—पूर्वाचार्यों ने सूत्रों को संक्षिप्त कर दिये हैं तथापि समवायांग में यह बात प्रत्यक्ष है।

इसमें विजयानन्द सूरि साफ स्वीकार करते हैं कि— 'उपासकदशांग में (जिसमें कि आनन्द श्रावक के सम्पूर्ण

चरित्र का चित्रण किया गया है) मूर्तिपूजा सम्बन्धी पाठ नहीं है।' अतएव आनन्द श्रावक को मूर्तिपूजक कहना मिथ्या ही है।

अब विजयानन्दजी ने जो सूत्रों के संक्षिप्त होने का कारण बताया और इस लिये समवायांग का प्रमाण जाहिर किया है। उस पर भी थोड़ा विचार किया जाता है—

(१) स्वामीजी ने उपासकदशांग के आनन्दाधिकार में मूर्ति पूजा का पाठ नहीं होना इसमें सूत्रों का संक्षिप्त होना कारण बताया है। यह भी असंगत है, यह दलील यहा इस लिये लागू नहीं हो सकती कि-जिस आनन्द के चरित्र कथन में सूत्रकार ने उसकी ऋद्धि, सम्पत्ति, गाड़े, जहाजे, गायें आदि का वर्णन किया हो, जिसके वन्दन, व्रताचरण के वर्णन में व्रतों का पृथक २ विवेचन किया हो। घर छोड़कर किस प्रकार पौषधशाला में धर्माराधन करने गये, किस प्रकार एकादश प्रतिमायें आराधन की और अवधिज्ञान पैदा हुआ, गौतम स्वामी को वन्दन करना, परस्पर का वार्तालाप गौतम स्वामी को शका उत्पन्न होना, प्रभु का समाधान करना गौतम स्वामी का आनन्द से क्षमा याचने आना, आनन्द का अनशन करके स्वर्ग में जाना इत्यादि कथन जिसमें विस्तार सहित किये गये हों। यहा तक कि खाने पीने के चावल, घी, पानी आदि कैसे रक्खे आदि छोटी-छोटी बातों का भी जहा उल्लेख किया गया हो, जिसके चरित्र चित्रण में सूत्र के तृतीयांश पृष्ठ लग गये हों, उसमें केवल मूर्तिपूजा जैसे दैनिक कर्तव्य का नाम तक भी नहीं होने से ही सूत्रों को संक्षिप्त कर देने की दलील ठोक देना असंगत नहीं तो क्या

है ? इस पर से तो मू० पू० बंधुओं को यह समझना चाहिये कि जिस विस्तृत कथन में ऐसी छोटी २ बातों का कथन हो, और मूर्तिपूजा जैसे धार्मिक कहे जाने वाले दैनिक कर्तव्य के लिये बिन्दु विसर्ग तक भी नहीं,, यह साफ बता रहा है कि वे आदर्श श्रावक मूर्तिपूजक नहीं थे।

(२) स्वामीजी ने हिम्मत पूर्वक यह डींग मारी है कि 'समवायांग में यह बात प्रत्यक्ष है' यह लिखना भी झूठ है, क्योंकि समवायांग में आनन्द श्रावक का वर्णन तो ठीक पर नाम भी नहीं है, हां समवायांग में उपासगदशांग की नोंध अवश्य है, उस नोंध में यह बताया गया है कि—

'उपासगदशांग में श्रावकों के नगर, उद्यान, व्यन्तरायतन, बनखण्ड, राजा, माता पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इह लोक, परलोक आदि का वर्णन है'

बस समवायांग में यही नोंध है और इसी को विजयानन्दजी मू० पू० का प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं ? हां यदि इसमें यह कहा गया होता कि उपासगदशांग में श्रावकों के मन्दिर मूर्ति पूजने दर्शन करने यात्रार्थ संघ निकालने आदि विषयक कथन है मू० पू० के लिये यह खास प्रमाण रूप मानी जासकती थी, किन्तु जब इसकी कुछ गंध ही नहीं फिर कैसे कहा जाय कि समवायांग में प्रत्यक्ष है ? विजयानन्दजी के उक्त उल्लेख का आधार वहां आया हुआ एक मात्र 'चैत्य' शब्द ही है। जिसका शुद्ध और प्रकरण संगत अर्थ 'व्यन्तरायतन' नहीं करके स्वामीजी ने जो जिन मन्दिर अर्थ किया यह इन की उक्ति से भी बाधित होता है क्योंकि—

(अ) उपासगदशांग में जो चैत्य शब्द आया है वही

चैत्य शब्द समवायांग में भी आया है जब उपासगदशांग में ही स्वामीजी के कथनानुसार मूर्ति पूजा का लेश नहीं है तब समवायांग में केवल इसी शब्द से प्रत्यक्ष और खुला मूर्ति पूजा का पाठ कैसे हो सकता है? अतएव उपासगदशांग की तरह समवायांग का पाठ भी इसमें प्रमाण नहीं हो सकता।

(आ) स्वामी जी ने उपासगदशांग में अपने मत के अनुकूल 'अरिहत चेइयाइं' पाठ माना है, किन्तु स्वामीजी के दिये हुए इस समवायांग के प्रमाण पर विचार करने से वह भी उड़ जाता है, क्योंकि—

स्वामीजी तथा इनके अनुयायियों की मान्यतानुसार जो 'अरिहंत चेइयाइं' यह शब्द असल मूल पाठ का होता तो इससे मूर्ति वन्दन नहीं मान कर इन्हें समवायांग के केवल 'चेइयाइं' शब्द (जो व्यन्तरायतन अर्थ को बताने वाला है) की ओर आशा से तरसना नहीं पडता। समवायांग के पाठ का प्रमाण देना ही यह बता रहा है कि उपासगदशांग में मूर्ति पूजा का वर्णन ही नहीं है या प्रक्षिप्त (अरिहंत चेइयाइं) पाठ में खुद इन्हें भी सदेह ज्ञात हुआ है। इस पर से भी उक्त पाठ क्षेपक सिद्ध होता है

(इ) स्वामीजी के लिखे हुए उपासगदशांग में मूर्ति पूजा का पाठ नहीं होकर समवायांग में है' इससे तो उल्टी एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता वाली प्रति का अरिहंत चेइयाइं विना का पाठ ठीक जान पडता है, क्योंकि उपासगदशांग और समवायांग इन दोनों में मात्र 'चेइयाइं' शब्द ही

---

* चैत्य-व्यन्तरायतनं, समवा० टीका पत्र १०८ सूत्र १४१ आ स.

हो और उपासकदशांग का 'चेइयाइं' शब्द भी स्वामीजी की मान्यतानुसार मूल पाठ का नहीं ऐसा पाया जाता है, तभी तो स्वामीजी समवायांग के मात्र 'चेइयाइं' शब्द की ओर झपटे हैं? यद्यपि विजयानन्दजी उपासकदशांग में 'अरिहंत चेइ-याइ' शब्द स्पष्ट स्वीकार नहीं करते हैं तथापि इनके उक्त प्रयास से यह अच्छी तरह प्रमाणित हो गया कि उपासकदशांग में उक्त पाठ नहीं होने रूप सत्य इनको भी कुछ तो कबूल है ही और इसीसे समवायांग की ओट लेने का इनको मिथ्या प्रयास करना पड़ा।

(ई) अब समवायांग में चैत्य शब्द किस प्रसंग पर आया है यह बता कर स्वामीजी के मिथ्या प्रयास का स्फोट किया जाता है।

समवायांग में उपासक दशांग की नोंध लेते हुए बताया गया है कि उपासक दशांग में क्या वर्णन है।

जैसे—सेकिंतं, उवासग्ग दसाओ ? उवासग दसासुणं उवासयाणं, णगराइं, उज्जाणाइं, 'चेइयाइं' वणखंडा, राया-णो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइय, परलोइय इड्ढिविसेसा, उवासयाणं, सीलव्वय, वेर-मण, गुणपच्चक्खाण, पोसहोववास, पडिवज्जियाओ, सुय-परिग्गहा, तवोवहाणाइं, पडिमाओ, उवासग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चखाणाइं पाओगमणाइं, देवलोग गमणाइं सुकुल प-च्चाया, पुणोबोहि लाभो, अंतकिरियाओ आघविज्जंति।

अर्थात्—उपासक दशांग में क्या है ? उपासक दशांग में उपासकों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता, पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलौकिक पारलौकिक ऋद्धि विशेष, उपासकों के शीघ्र व्रत, वेरमणव्रत, गुणपौषधोपवास व्रत, मूत्रग्रहण, तपोधान, उपासक प्रतिमा उपसर्ग सल्लेहणा, भक्तप्रत्याख्यान, पादोपगमन, उच्चकुल में जन्म फिर बोधि (सम्यक्तव) लाभ, अन्तक्रिया करना ये सब वर्णन किये जाते हैं।

इस सूत्र में कहीं भी मूर्ति पूजा का नाम तक नहीं है, न मन्दिर बनवाने या उसके मन्दिर होने का ही लेख है, फिर ये कैसे कहा जाता है कि समवायाग में प्रत्यक्ष है ? विचार करने पर मालूम होता है कि 'चेइयाइ' जो नगरी के साथ उद्यान और इसमें रहे हुए 'व्यन्तरायतन' के वर्णन में आया है इसीसे उन श्रावकों के मन्दिर होने या मूर्ति पूजने का कहते हैं, किन्तु इनका यह कथन भी एक दम असत्य है। क्योंकि जिस प्रकार उपासक दशाग की सूची बताई गई है उसी प्रकार अन्तकृत दशाग अनुत्तरोपपातिकदशा, विपाक इन की भी सूचि दी गई है सभी में एक समान पाठ आया है, देखिये—

अतगडाण णगराइ, उज्जाणाइ, 'चेइयाइ' अणुत्तरोवाइयाणं णगराइ, उज्जाणाइ, 'चेइयाइं' सुहविवागाणं णगराइं, उज्जाणाइ, 'चेइयाइ' दुहविवागाणं णगाराइ, उज्जाणाइ, 'चेइयाइ'

अर्थात्—अंतकृतो, अनुत्तरोपपपातिकों, सुखान्तकरों और दुःखान्तकरों के नगर, उद्यान, चैत्य थे, इस प्रकार आये हुए चैत्य शब्द से यह प्रश्न होता है कि—

क्या इस सभा के बनाये हुए जिन मन्दिर थे, ऐसा अर्थ माना जायगा ? नहीं, कदापि नहीं ! यहां का निराबाध अर्थ जहां अन्तकृतादि रहते थे वहां व्यन्तरायतन था यही उपयुक्त और संगत है। यहां आये हुए चैत्य शब्द का अर्थ उनके ब-नाये हुए जिन-मन्दिर या उनके जिन-मन्दिर ऐसा मानने वाले से जब यह पूछा जाता है कि ऐसा अर्थ मानने पर आपको दुःखांत विपाक में वर्णित उन दुष्ट मलेच्छ, अनार्य, लोगों के भी जिन-मन्दिर मानने पड़ेंगे। क्योंकि यह 'चैत्य' शब्द तो वहां भी आया है ऐसा मानने पर जिन-मन्दिर का महत्व ही क्या रहेगा ? इतना पूछने पर यहां तो चट वे हमारे मूर्ति पूजक बन्धु कह देंगे कि नहीं यहां चैत्य शब्द का अर्थ जिन-मन्दिर-जिन-मूर्ति नहीं होकर व्यन्तर मन्दिर ही अर्थ होगा इस तरह एक समान वर्णन में एक जगह जिन-मन्दिर व दूसरी जगह व्यन्तरायतन अर्थ कैसे हो सकता है ?

वास्तव में ऐसे वर्णनों में चैत्य शब्द का अर्थ व्यंतरायतन होता है। इसके लिये उपासगदशांग में नगरियों के साथ आये हुए नाम प्रमाण है। जैसे

पुरणभद्दे चेइए, कोट्ठगे चेइए, गुणसिलाए चेइए आदि

ऐसे वाक्यों में चैत्य शब्द का अर्थ व्यंतरायतन ही होता है, स्वयं आगमों के टीकाकार भी हमारे इस अर्थ से सह-मत हो कर इनके कहे हुए अर्थ का खण्डन करते हैं, देखिये—

चेइएत्ति—चितलेंप्यादि चयनस्य भावः कर्मवेति चैत्यं, संज्ञाशब्दत्वाद् देव बिंबं तदाश्रयत्वात् तद्गृहमपि चैत्यं तच्चेह व्यंतरायतनम् नतु भगवतामर्हतामायतनम् ।

इससे सिद्ध हुआ कि आदर्श श्रमणोपासकों को मूर्ति पूजक ठहराने का कथन एकान्त झूंठ है। और साथ ही मूर्तिपूजा आगम सम्मत है ऐसे कहने वालों के इस सिद्धांत को फेंक देने योग्य निस्सार घोषित करता है। जिसके पास खरा आगम प्रमाण हो वह ऐसा मिथ्या प्रपञ्च क्यों करने लगे? यह बात अच्छी तरह समझ में आ सके ऐसी सरल है।



अंबड़-श्रावक (सन्यासी)



प्रश्न- अंबड़ श्रावक ने जिन प्रतिमा वांदी ऐसा स्पष्ट कथन औपपातिक सूत्र में है, यह तो आपको मान्य है न ?

उत्तर--उक्त कथन भी आनन्द श्रावक के अधिकार की तरह निस्सार है, यहां भी आप प्रसंग को छोड़ कर ही इधर उधर भटकते हैं, क्योंकि अंबड़ परिव्राजक ने निम्न प्रकार से प्रतिज्ञा की है—

णोकप्पइ अरणउत्थिएवा, अरणउत्थिय देवयाणिवा, अरणउत्थिय परिग्गहियाणि अरिहंत चेइयाणिवा, वंदित्तएवा, णमंसित्तएवा, जावपज्जुवासित्तएवा, णणत्थ अरिहंतेवा, अरिहंत चेइयाणिवा, वंदित्तएवा, णमंसित्तएवा,

नोट—यह पाठ जो यहां दिया गया है सो केवल गुजराती प्रति से ही, और गुजराती प्रति में भी किसी अन्य प्रति से दिया गया होगा। किन्तु अभी आगमोदय समिति की प्रति का अवलोकन किया तो उसमें अकल्पनीय प्रतिज्ञा में

'अरिहंत' शब्द है ही नहीं, हमारी समाज में अब तक बिना ढूंढे किसी भी प्रति का अनुकरण कर अशुद्ध पाठ दे दिया जाता है यह प्रथा विचारकों को भ्रम में डाल देती है इस-लिये हमें सच्चे शोधक बनना चाहिये, सच्चे अन्वेषक के सामने पूर्व की चालाकियां अधिक समय नहीं ठहर सकती आशा है समाज के विद्वान इस ओर ध्यान देंगे आगमोदय समिति की प्रति का पाठ इस प्रकार है।—

आगमोदय समिति के औपपातिक सूत्र के चालीसवें सूत्र पृष्ठ ६७ पं० ४ से

अम्मडस्सणो कप्पई अन्नउत्थिया वा अन्न· उत्थिय देवयाणिवा, अरणउत्थिय परिग्गहि-याणिवा 'चेइयाइं' वंदित्तएवा णमंसित्तएवा जावपज्जुवासित्तएवा णरणत्थ अरिहंतेवा अरि-हंत चेइयाइं वा।

इस पर से उपासगदशाग का अरिहंत शब्द स्पष्ट प्रक्षिप्त क्षेपक सिद्ध होता है, इसके सिवाय कल्पनीय प्रतिज्ञा में जो अरिहंत शब्द है वह भी अभी विचारणीय है, फिर भी जो इसको नि सकोच मान लिया जाय तो भी इसका परमार्थ गणधरादि से लेकर सामान्य साधुओं के वदन का ही स्पष्ट होता है, अन्यथा अवड़ के लिए गणधरादि के वन्दना सिद्ध करने का कोई सूत्र ही नहीं रहेगा। सिवाय अरिहंत और अरिहंत चैत्य (साधु) को वन्दन नमस्कार करनाकल्पता है।

इस पाठ में अरिहंत चैत्य शब्द आया है, जिसका साधु अर्थ गुरु गम्य से जाना है। और वो है भी उपयुक्त, क्योंकि यदि अरिहंत चैत्य से साधु अर्थ नहीं लिया जायगा तो अन्य तीर्थी के साधु वन्दन का निषेध नहीं होगा और जैन के साधुओं को वन्दन नमस्कार करने की प्रतिज्ञा भी नहीं की गई ऐसा मानना पड़ेगा, अतएव सिद्ध हुआ कि—अरिहंत चैत्य का अर्थ अरिहंत के साधु भी होता है और इसी शब्द से गणधर, पूर्वधर, श्रुतधर, तपस्वी आदि मुनियों को वन्दनादि करने की अंबड़ ने प्रतिज्ञा की थी। यह हर्गिज नहीं हो सकता कि—अरिहंत के जीते जागते 'चैत्यों' (गणधर यावत् साधु) को छोड़कर उनकी जड़ मूर्ति को वन्दनादि करने की अंबड़ मूर्खता करे। अतएव यहां अरिहंत चैत्यार्थ अरिहंत के साधु ही समझना उपयुक्त और प्रकरण संगत है।

यदि अरिहंत चैत्य शब्द से अरिहंत की मूर्ति ऐसा अर्थ माना जाय को अन्य तीर्थी के ग्रहण कर लेने मात्र से वह मूर्ति अवन्दनीय कैसे हो सकती है? यह तो बड़ी प्रसन्नता की बात होनी चाहिए कि-तीर्थंकर मूर्ति को अन्य तीर्थी भी माने और वन्दे पूजे! हां यदि साधु अन्य तीर्थी में मिलकर उनके मतावलम्बी हो जाय तब वो तो अवन्दनीय हो सकता है, किन्तु मूर्ति क्यों? उसमें कौनसा परिवर्तन हुआ? उसने कौनसे गुण छोड़ कर दोष ग्रहण कर लिये? वह अछूत क्यों मानी गई? इत्यादि विषयों पर विचार करते यही प्रतीत होता है कि—यहां अरिहंत चैत्य का मूर्ति अर्थ असंगत ही है।

५—"चारण मुनि"

प्रश्न-जघा चारण विद्याचारण मुनियों ने मूर्ति वादी है, यह भगवती सूत्र का कथन तो आपको मान्य है न ?

उत्तर-तुम्हारा यह कथन भी ठीक नहीं, कारण भगवती सूत्र में चारण मुनियों ने मूर्ति को वन्दना की ऐसा कथन ही नहीं है, वहा तो श्री गौतमस्वामी ने चारण मुनियों की ऊर्द्ध अधोदिशा में गमन करने की जितनी शक्ति है ऐसा प्रश्न किया है, जिसके उत्तर में प्रभु ने यह बतलाया है कि—यदि चारण मुनि ऊर्द्धादि दिशा में जावे तो इतनी दूर जा सकते हैं उसमें 'चेइयाइं वन्दइ' चैत्य वन्दन यह शब्द आया है जिसका मतलब स्तुति होता है, आपके विजयानन्द जी ने भी परोक्ष वन्दन (स्तुति) को चैत्य वन्दन कहा है तो यहा परोक्ष वन्दन मानने में आपत्ति ही क्या है ? इसके सिवाय यदि इस प्रकार कोई मुनि जावे और उसकी आलोचना नहीं करे तो वह विराधक भी तो कहा गया है ? यह क्या बता रहा है ? आप यहा ईर्यापथिकी की आलोचना नहीं समझें, वहा 'तस्स ठाणस्स' कहकर उस स्थान की आलोचना लेना कहा है, इससे तो यह कार्य ही अनुपादेय सिद्ध होता है फिर इसमें अधिक विचार की बात ही क्या है

६—'चमरेन्द्र'

प्रश्न—चमरेन्द्र जिन मूर्ति का शरण लेकर स्वर्ग में गया, यह भगवती सूत्र का कथन भी आपको मान्य नहीं है क्या ?

उत्तर—भगवती सूत्र में चमरेन्द्र मूर्ति का शरण लेकर स्वर्ग में गया ऐसा लिखा यह कथन ही असत्य है, वहां स्पष्ट बताया गया है कि—चमरेन्द्र छद्मस्थावस्था में रहे हुए श्री वीर प्रभु का शरण लेकर ही प्रथम स्वर्ग में गया था, अतएव प्रश्न का आशय ही ठीक नहीं है। लेकिन कितने ही मूर्ति-पूजक बन्धु यहां पर शक्रेन्द्र के विचार करने के प्रसंग का पाठ प्रमाण रूप देकर मूर्ति का शरण लेना बताते हैं उस पाठ में यह बताया गया है कि—शक्रेन्द्र ने विचार किया कि—चमरेन्द्र सौधर्म स्वर्ग में आया किस आश्रय से ? इस पर विचार करते करते २ उसने तीन शरण जाने, तद्यथा—

'अरिहंत, अरिहंत चैत्य, भावितात्मा अणगार', इन तीन शरणों में मू० पू० बन्धु 'अरिहंत चैत्य' शब्द से मूर्ति अर्थ लेते हैं किन्तु यह योग्य नहीं है। क्योंकि अरिहन्त शब्द से

केवलज्ञानादि भावगुणयुक्त अरिहन्त और अरिहन्त चैत्य से छद्मस्थ अवस्था में रहे हुए द्रव्य अरिहन्त अर्थ होना चाहिये यहां यही अर्थ प्रकरण संगत इसलिए है कि–चमरेन्द्र छद्मस्थ महावीर प्रभु का ही शरण लेकर गया था, और इसी लिए यह दूसरा अरिहन्त चैत्य शब्द लेना पड़ा। यदि अरिहन्त चैत्य से मूर्ति अर्थ करोगे तो चमरेन्द्र पास ही प्रथम स्वर्ग की मूर्तियां छोड़कर व अपने जीवन को संकट में डाल कर इतनी दूर तिरछे लोक में क्यों आता? वहां तो यह भयाकुल बना हुआ था इसलिए समीप के आश्रय को छोड़ कर इतनी दूर आने की जरूरत नहीं थी, किन्तु जब मूर्ति का शरण ही नहीं तो क्या करें? चार मांगलिक चार उत्तम शरणों में भी मूर्ति का कोई शरण नहीं है, फिर यह व्यर्थ का सिद्धांत कहां से निकाला गया? जब कि मूर्ति स्वयं दूसरे के आश्रय में रही हुई है। और उसकी खुद की रक्षा भी दूसरे द्वारा होती है, फिर भी मौका पाकर आततायी लोग मूर्ति का अनिष्ट कर डालते हैं तो फिर ऐसी जड़ मूर्ति दूसरों के लिए क्या शरण भूत होगी?

आश्चर्य होता है कि—ये लोग खाली शब्दों की खींचतान करके ही अपना पक्ष दूसरों के सिर लादने की कोशिश करते हैं और यही इनकी असत्यता का प्रधान लक्षण है, इस प्रकार किसी धार्मिक व सर्वमान्य, आप्तकथित कहे जाने वाले सिद्धांत की सिद्धि नहीं हो सकती, उसके लिए तो आप्तकथित विधि विधान ही होना चाहिये।



७—तुंगिया के श्रावक

प्रश्न—भगवती सूत्र में कहा गया है कि तुंगिया नगरी के श्रावकों ने जिन-मूर्ति-पूजा की है, इसके मानने में क्या बाधा है ?

उत्तर—उक्त कथन भी एकान्त असत्य है, भगवती सूत्र में उक्त श्रावकों के वर्णन में मूर्ति-पूजा का नाम निशान तक भी नहीं है ! किन्तु सिर्फ मूर्ति-पूजक लोगों ने उस स्थल पर आये हुए '**कयबलि कम्मा**' शब्द का अर्थ मूर्ति पूजा करना ऐसा हैं यही तो अर्थहै, क्योंकि—यह शब्द जहां स्नान का संक्षेप वर्णन किया गया है ऐसे जगह में अथवा बलवर्द्धक कर्म के अर्थ में आया है उसे धार्मिकता का रूप देना नितान्त पक्षपात है और जहां स्नान का विस्तार युक्त कथन है वहां श्रावकों के अधिकार में भी यह बलिकर्म शब्द नहीं है। (देखो उववाइ जंबुद्वीप प्रज्ञप्ति) किन्तु जहां स्नान का विस्तार संकुचित किया गया है, वहां यही शब्द आया है अतएव इस शब्द से मूर्ति-पूजा करना सिद्ध नहीं हो सकता।

टीकाकार इस शब्द का 'गृहदेव पूजा' अर्थ करते हैं, यहां गृहदेव से मतलब गौत्र देवता है, अन्य नहीं। श्रीमद् रायचन्द्र जिनागम सग्रह में प्रकाशित भगवती सूत्र के प्रथम खड में अनुवाद कर्ता पं० बेचरदासजी जो स्वय मूर्ति-पूजक हैं इस शब्द का अर्थ 'गौत्रदेवी नु पुजन करी' करते है (देखो पृष्ठ २७६) और इस खण्ड के शब्द कोष में भी इस शब्द का अर्थ 'गृह गौत्र देवी नुं पूजन' ऐसा किया है (देखो पृष्ठ ३८१ की दूसरी कालम) इस पर से सिद्ध हुआ है कि मूर्ति पूजक विद्वान यद्यपि बलिकर्म का अर्थ 'गृहदेवी की पूजा' करते हैं तो भी तीर्थकर मूर्ति पूजा ऐसा अर्थ करना तो उन्हें भी मान्य नहीं है।

इस विषय में मूर्ति पूजक आचार्य विजयानन्द सूरि आदि ऐसी कुतर्क करते हैं कि-वे श्रावक देवादि की सहायता चाहने वाले नहीं थे, इसलिए यहा 'गृहदेव पूजा' से मतलब घरमें रहे हुए तीर्थंकर मन्दिर (घर देरासर) से है, क्यों कि वे तीर्थंकर सिवाय अन्य देव का पूजन नहीं करते थे किन्तु यह तर्क भी असत्य है। क्योंकि भगवती सूत्र में इन श्रावकों के विषय में यह कहा गया है कि जिनको निर्ग्रंथ प्रवचन से डिगाने में देव दानव भी समर्थ नहीं थे, आपत्ति के समय किसी भी देवता की सहाय नहीं इच्छकर स्वकृत कर्म फल को ही कारण समझते थे, किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना कि वे श्रावक लौकिक कार्य के लिये कुल परम्परानुसार लौकिक देवों को नहीं पूजते थे, क्योंकि वे भी ससार में बैठे थे, अतएव सासारिक और कुल परंपरागत रिवाजों का पालन करते थे। प्रमाण के लिये देखिये—

(१) भरतेश्वर चक्रवर्ती सम्राट ने, चक्ररत्न, गुफा, द्वार आदि की पूजा की लौकिक देवों के आराधना के लिये तप किया। (जंबुद्वीप प्रज्ञप्ति)

(२) शांति आदि तीन तीर्थंकरों ने भी चक्रवर्ती अवस्था में भरतेश्वर की तरह चक्ररत्नादि लौकिक देवों की पूजा की थी। (त्रिशष्ठि शलाका पुरुष चरित्र)

(३) अरहन्नक-श्रमणोपासक ने नावा पूजन किया, और बलबाकुल दिये। (ज्ञाताधर्मकथा)

(४) अभयकुमार ने धारिणी का दोहद पूर्ण करने को अष्टमभक्त तप कर देवाराधन किया। (ज्ञाताधर्मकथा)

(५) कृष्ण वासुदेव ने अपने छोटे भाई के लिये अष्टम तपकर देवाराधन किया। (अंतकृत दशांग)

(६) हेमचन्द्राचार्य ने पद्मनी रानी को नग्न रख कर उस के सामने विद्या सिद्ध की। (योगशास्त्र भाषान्तर प्रस्तावना)

(७ मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय के जिनदत्त सूरि आदि आचार्यों ने भी देवी देवताओं का आराधन किया (मूर्ति-पूजक ग्रंथ)

(८) मूर्ति-पूजक साधु प्रतिक्रमण में देवी देवताओं की प्रार्थना करते हैं जो प्रत्यक्ष है।

जब कि खुद मूर्ति पूजक साधु ही मुनि धर्म से विरुद्ध होकर लौकिक देवताओं का आराधन आदि करते हैं तो संसार में रहे हुए गृहस्थ श्रावक लौकिक कार्य और कुलाचार से लौकिक देवताओं को पूजे इसमें आश्चर्य की क्या

वात है? अतएव सिद्ध हुआ कि श्रमणोपासक वंशपरपरा नुसार लौकिक देवों का पूजन कर सकते हैं।

अगर इसको धर्म नहीं मानने की बुद्धि है तो इतने पर से सम्यक्त्व चला नहीं जाता।

और 'कयबलिकम्मा' शब्द का अर्थ एकान्त 'देव पूजा' भी तो नहीं हो सकता, क्योंकि—

(क) प्रथम तो यह शब्द स्नान के विस्तार को संकोच कर रक्खा गया है।

(ख दूसरा ज्ञाता धर्म कथांग के ८ वें अध्ययन में मल्लि-नाथ के स्नानाधिकार मे भी यह शब्द आया है। इसलिये इसका देव पूजा अर्थ नहीं होकर स्नान विशेष ही हो सकता है। क्योंकि गृहस्थावस्था में रहे हुए तीर्थंकर प्रभु भी चक्र-वर्तीपन के सिवाय, माता पिता के अलावा और किसी को वन्दन, नमन, पूजा नहींकरते अतएव यहा देवपूजा अर्थ नहीं होकर स्नान विशेष ही माना जायगा। इस तरह वलि कर्म का अर्थ जिन मूर्ति पूजा मानना विलकुल अनुचित और प्रमाण शून्य दिखाता है।

जो कार्य आश्रव वृद्धि का तथा गृहस्थों के करने का चरितानुवाद रूप है उसमें धार्मिकता मान कर उसमें धार्मि-क विधि कह डालने वाले वास्तव में अपनी कूट नीति का परिचय देते हैं।

क्योंकि श्रावकों के धार्मिक जीवन का जहा वर्णन है वहा इसी भगवती सूत्र के तुंगिया के श्रावकों के वर्णन में यह बताया है कि—

'वे श्रावक जीवाजीव आदि नव पदार्थों के जानकार निर्ग्रंथ प्रवचन में अनुरक्त, दान के लिए खुले द्वार वाले तथा भण्डार और अन्तःपुर में भी विश्वास पात्र हैं, जो शीलव्रत गुणव्रत प्रत्याख्यान आदि का पठन करते थे अष्टमी, चतुर्दशी पूर्णिमा, अमावश्या को पौषधोपवास करने वाले साधु साध्वि यों को दान देने वाले शंका कांक्षादि दोष रहित, व सूत्र अर्थ जानकार ऐसे अनेक गुण वाले थे, उन्होंने स्थविर भगवन्त से तप संयम आदि विषयों पर प्रश्नोत्तर कीये थे, इत्यादि।'

जबकि-श्रावकों के धर्म कर्त्तव्यों के वर्णन करने में मूर्ति-पूजा की गंध भी नहीं है, तो फिर स्नान करने के स्नानागार में मूर्ति पूजा का क्या सम्बन्ध ? अतएव 'कयबलिकम्मा' से जिन मूर्ति पूजने का मन कल्पित अर्थ करके उन माननीय श्रावको को मूर्ति पूजक ठहराने की मिथ्या कोशिष न्याय संगत नहीं है। ऐसी निर्जीव दलीलों में तो मूर्ति-पूजा का सिद्धांत एकदम लचर और पाखण्ड युक्त सिद्ध होता है।



८—चैत्य-शब्दार्थ



प्रश्न—चैत्य शब्द का अर्थ जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमा नहीं तो दूसरा क्या है ?

उत्तर—चैत्य शब्द अनेकार्थ वाची है, प्रसंगोपात प्रकरणानुकूल ही इसका अर्थ किया जाता है, जिनागमों में चैत्य शब्द के निम्न अर्थ करने में आये हैं।

व्यंतरायतन, बाग, चिता पर बना हुआ स्मारक, साधु, ज्ञान, गति विशेष, बनाना, (चुनना) वृक्ष, विशेष इत्यादि।

(१) नगरी के वर्णन के साथ आये हुए चैत्य शब्द का अर्थ व्यंतरायतन होता है, स्वयं टीकाकार भी यही कहते हैं देखिये—

चेइएत्ति चितेलेप्यादि चयनस्य भावः
कर्मवेति चैत्यं, संज्ञा शब्दत्वाद् देव विम्ब
तदाश्रयत्वात् तद्गृहमपि चैत्यं तच्चेह
व्यंतरायतनम् नतुभगवता मर्हितायतनम्

इसके सिवाय—

रुक्खंवा चेइअकडं, थुबंवाचेइअकडं, (आचारांग)

(२) बाग-अर्थ में भगवती उत्तराध्ययनादि में आया है, जैसे 'पुप्फवत्तिए चेइए' मंडिकुच्छंसि चेइए और मूर्ति-पूजक वीर पुत्र श्री आनन्द सागरजी ने अपने अनुवाद किये हुए 'अनुत्तरोपपातिकदशा' 'विपाक सूत्र' में नगरी के साथ आये हुए सभी चैत्य शब्दों का अर्थ 'उपवन' किया है जो बाग के ही अर्थ को बताने वाला है।

(३) चिता पर बने हुए स्मारक इस अर्थ के चेइय शब्द आचारांग और प्रश्न व्याकरण में आते हैं, जैसे 'मडयचेइए सुवा' आदि है।

(४) चेइय शब्द का साधु अर्थ उपासक दशांग व भगवती में लिया है, और अभयदेव सूरि ने भी स्थानांग सूत्र की टीका में चैत्य शब्द का अर्थ साधु इस प्रकार किया है—

चैत्यमिवजिनादि प्रतिमेव चैत्यं श्रमणं

और वृहद्कल्प भाष्य उद्देशा ६ में आहा-आधाय-कम्मे गाथा की व्याख्या में क्षेम कीर्तिसूरि लिखते हैं कि 'चैत्योद्देशिकस्य' अर्थात् साधु को उद्देश कर बनाया हुआ आहार।

इसके सिवाय दिगम्बर सम्प्रदाय के षड्पाहुड़ ग्रंथ में भी यही अर्थ किया है। देखिये—

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं वेइयाइँ अण्णांच।
पंच महव्वय शुद्धं, णाणमयं जाण चेदिहरं॥ ८॥
चेइय बंधं मोक्खं, दुक्खं, सुक्खंच अप्पयंतस्य
चेइहरो जिणमग्गे छक्काय हियँ भणियं॥ ६॥

(५) ज्ञान–अर्थ समवायांग सूत्र में चौवीस जिनेश्वरों को जिस वृक्ष के नीचे केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ उस वृक्ष को केवल ज्ञान की अपेक्षा से ही चैत्य वृक्ष कहा है। इससे ज्ञान अर्थ सिद्ध हुआ, दूसरा वंदना में चेइयं शब्द आया है उसका अर्थ भी ज्ञानवन होता है। राज प्रश्नीय की टीका में साक्षात् प्रभु के वन्दन में भी चैत्य शब्द आया है वहां टीकाकार ने 'चैत्य सु प्रशस्त मनोहेतुत्वात्' कहकर सर्वज्ञ को ही चैत्य कह दिया है। और दिगम्बर सम्प्रदाय के षट्पाहुड में तो णाण मय जाण चेदिहरं' (ज्ञान मय आत्मा को चैत्यगृह जानो) कहा है इस पर से ज्ञान और ज्ञानी अर्थ भी सिद्ध होता है।

(६) गति विशेष अर्थ—ज्ञाता धर्म कथांग के अध्ययन १—४—८—६ में निम्न प्रकार आया है।

सिग्घं, चवडं, चवलं, तुरियं, चेइयं

(७) बनाना— अर्थ आचारंग अ० ११ उ० २ में इस प्रकार आया है,—

आगारिहिं आगाराइ चेइयाइं भवंति

[८] वृक्ष—अर्थ उत्तराध्ययन अ० ७ में इस प्रकार आया है।

वाएण हीर माणम्मि चेइय मिमणोरमे

ऐसे विशेषार्थी चैत्य शब्द का केवल जिन मन्दिर और जिन मूर्ति अर्थ करना मात्र हठ धर्मीपन ही है।

विजयानन्द सूरिजी सम्यक्त्व शल्योद्धार हिंदी आवृत्ति ४ पृष्ठ १७५ में चैत्य शब्द का अर्थ करते हैं कि—

'जिन मंदिर, जिन-प्रतिमा को चैत्य कहते हैं और चौंतरे बंद वृक्ष का नाम चैत्य कहा है इसके उपरान्त और किसी वस्तु का नाम चैत्य नहीं कहा है।

इस प्रकार मनमाने अर्थ कर डालना उक्त प्रमाणों के सामने कोई महत्व नहीं रखता क्योंकि इन तीन के सिवाय अन्य अर्थ नहीं होने में कोई प्रमाण नहीं है। जब श्री विजयानन्दजी चैत्य के तीन अर्थ करते हैं तो इनके शिष्य महोदय शांति विजयजी जिनके लम्बे चौड़े टाईटल इस प्रकार हैं—

जनाब, फैजमान, मग्जनेइल्म, जैन श्वेताम्बर धर्मोपदेष्टा विद्यासागर, न्यायरत्न, महाराज शांतिविजयजी अपने गुरु-से दो कदम आगे बढ़ कर अपने गुरू के बताए हुए तीन अर्थों में से एक को उड़ा कर केवल दो ही अर्थ करते हैं वे इस प्रकार हैं।

'चैत्य शब्द के मायने जिन-मन्दिर और जिन-मूर्ति यह दो होते हैं, इससे ज्यादे नहीं' [जैन मत पताका पृ० ७४ पं० ८] इस तरह जहां मनमानी और घर जानी होती है। हटाग्रह से ही काम चलता हो वहां शुद्ध अर्थ की दुर्दशा होना सम्भव है क्योंकि जहां हठ का प्राबल्य हो जाता है वहां उल्लिखित आगम सम्मत प्रकरणानुकूल शुद्ध अर्थ बताये जांय तो भी वे अपने मिथ्या हठ के कारण भले ही प्रकरण के प्रतिकूल हो मनमानी अर्थ ही करेंगे। ऐसे महानुभावों से कहना है कि

कृपया तत्त्व निर्णय में तो हठ को छोड़ दीजिये, और फिर निम्न प्रमाण देखिये आपके ही मान्य ग्रन्थकार आपकी दो और तीन ही मनमाने अर्थ मानकर अन्य का लोप करने की वृत्ति को असत्य प्रमाणित कर रहे हैं—

खेमविजयजी गणि कल्पसूत्र पृ १६० पंक्ति६ में 'वेयावच्चस्स चेइयस्स' का अर्थ व्यंतरनु मन्दिर लिखते हैं, यहां आपके किये अर्थों से यह अधिक अर्थ कहा से आगया ?

यदि आप लोग चैत्य शब्द से जिन मन्दिर और जिन मूर्ति ही अर्थ करते है तो समवायांग में दुःख विपाक की नोंध लेते हुए बताया गया है कि—

दुह विवागाणं णगराई उज्जाणाई चेईयाई ।

क्या इस मुल पाठ में आये हुए चैत्य शब्द का भी जिन-मन्दिर या जिन मुर्ति अर्थ करेंगे ! नहीं वहा तो आप अन्य मन्दिर ही अर्थ करेंगे, क्योंकि—यदि वहां आपने उन दुखान्तविपाकों (अनार्य, पापी, मलेच्छ, और हिंसकों) के भी जिन मंदिर होना मान लिया तब तो इन जिन मंदिरों का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा और मिथ्यात्वी सम्यक्त्वी का भी भेद नहीं रहेगा, इसलिये वहा तो आप चट से व्यंतर का मंदिर ही अर्थ करेंगे, इससे आपके विजयानन्दजी के माने हुए तीन ही अर्थों के सिवाय अन्य चौथा अर्थ भी सिद्ध हुआ । आपके ही 'मूर्ति मंडन प्रश्नोत्तर' के लेखक पृ० २८२ में प्रश्न व्याकरण के आश्रव द्वार में आये हुए चैत्य शब्द का अर्थ (जोकि मनो कल्पित है) इस प्रकार करते हैं कि—

'कोना चैत्य तो के कसाइ, वाघरी, मांछला पकड़-नार, महाक्रूर कर्मी करनार, इत्यादि घणा म्लेच्छ जाति-ते सर्वे यवन लोक देवल प्रतिमा वास्ते जीवों ने हणे ते आश्रव द्वार छे'

और इसी पृष्ठ पंक्ति १ में—

'ते ठेकाणे आश्रव द्वार मां तो म्लेच्छोंना चैत्य 'मसिदो' ने गणावेल छे'

इससे भी चैत्य शब्द का अन्य मंदिर और मस्जिद अर्थ सिद्ध हुआ। अब बुद्धिमान स्वयं विचार करें कि कहां तो केवल मनःकल्पित दो और तीन ही अर्थ मानकर बाकी के लिए शून्य टोक देना, और कहां इन्हीं के मतानुयाइयों के माने हुए अन्य अर्थ और टीकाकारों तथा सूत्रकारों के अर्थ जो ऊपर बताये गये हैं, क्या अब भी हठधर्मीपने में कोई कसर है ?

कुछ जैनेतर विद्वानों के अर्थ भी देखिये—

(क) शब्द स्तोम महानिधि कोष में—

ग्रामादि प्रसिद्ध महावृक्षे, देवावासे जनानां, सभास्थ-तरो, बुद्ध भेदे, आयतने, चिता चिन्हे, जनसभायां, यज्ञ-स्थाने, जनानां विश्राम स्थाने, देवस्थानेच, ।

(ख) हिंदी शब्दार्थ पारिजात (कोष) में— (पृष्ठ २५२)

देवायतन, मसजिद, गिर्जा, चिता गामका पूज्यवृक्ष मकान, यज्ञशाला, बिलीवृक्ष, बौद्ध सन्यासी, बौद्धों का मठ ।

(ग) भागवत पुराण स्कन्ध ३ अध्याय २६ में--

'अहंकार स्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्य स्ततोऽभवत्'

अर्थात्- अहंकार से रुद्र, रूद्र से चित्त, चित्त से चैत्य अर्थात--आत्मा हुआ।

चैत्य शब्द का मदिर व मूर्ति यह अर्थ प्राचीन नहीं किंतु आधुनिक समय का है, ऐसा मूर्ति पूजक विद्वान पं० बेचरदासजी ने अनेक प्रबल प्रमाणों से सिद्ध किया है। ('देखो जैन साहित्यमा विकार थवाथी थयेली हानी' नामक निबन्ध) ये लोग कब से और किस प्रकार मूर्ति अर्थ करने लगे हैं यह भी पण्डितजी ने स्पष्ट कर दिया है, इस निबन्ध को सम्यक प्रकार से पढ़कर अपने हठ को छोड़ना चाहिये। और यह पक्का निश्चय कर लेना चाहिये कि-धार्मिक विधि का विधान किसी के कथानक या शब्दों की ओर से नहीं किया जाता किन्तु खास शब्दों में किया जाता है।

इत्यादि प्रमाणों पर से हम इन मूर्ति-पूजक बन्धुओं से यही कहते हैं कि--कृपया अभिनिवेश को छोड़कर शुद्ध हृदय से विचार करें और सत्य अर्थ को ग्रहण कर अपना कल्याण साधें।



९-आवश्यक निर्युक्ति, और भरतेश्वर



प्रश्न—आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है कि चक्रवर्ती भरतेश्वर ने अष्टापद पर्वत पर चौवीस तीर्थंकरों के मन्दिर बना कर मूर्ति में स्थापित की इस प्रकार श्रेणिक आदि अन्य श्रावकों ने भी मन्दिर बना कर मूर्ति-पूजा की है इसे आप क्यों नहीं मानते ? क्या इसी कारण से आप ३२ सूत्र के सिवाय अन्य सूत्रों और मूल के सिवाय टीका निर्युक्ति आदि को नहीं मानते है ?

उत्तर—महाशय? क्या आप इसी बल पर मूर्ति पूजा को धर्म का अंग और प्रभु आज्ञा युक्त मानते हैं ? क्या आप इसी को प्रमाण कहते हैं ? आपका यह प्रमाण ही प्रमाणित करता है कि मूर्ति-पूजा धर्म का अंग और प्रभु आज्ञा युक्त को मात्र ही कहते है, वास्तव में तो है आगम प्रमाण का दीवाला ही।

हम आप से सानुनय यह पूछते हैं कि आपका और निर्युक्तिकार का यह कथन आवश्यक के किस मूल पाठ के

आधार से है ? जब कोई आपसे पूछेगा कि जिस आवश्यक की यह निर्युक्ति कही जाती है उस आवश्यक के मूल में संक्षिप्त रूप से भी इस विषय में कहीं कुछ संकेत है क्या ? तब उत्तर में तो आपको अनिच्छा पूर्वक भी यह कहना प-ड़ेगा कि मूल में तो इस विषय का एक शब्द भी नहीं है, क्योंकि अभाव का सद्भाव तो आप कैसे कर सकते हैं ? इधर प्रकृति का यह नियम है कि विना मूल के शाखा प्रति-शाखा पत्र, पुष्प फल आदि नहीं हो सकते, अगर कोई वि-ना मूल के शाखा आदि होने का कहे भी तो वह सुज्ञजनों के सामने हंसी का पात्र बनता है इसी प्रकार विना मूल की यह शाखा रूप यह निर्युक्ति (व्याख्या) भी युक्ति रहित होने से अमान्य रहती है।

भरतेश्वर का विस्तृत वर्णन जबुद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र के मूल पाठ में आया है, उसमें भरतेश्वर के चक्ररत्न, गुफा, किंवाड़ आदि के पूजने का तो कथन है, षटखण्ड साधना में व्यंत-रादि देवों की आराधना व उनके लिये तपस्या करने का भी कहा गया है किन्तु ऐसे बड़े विस्तृत वर्णन में जहां कि उनको स्नान आदि का सविस्तार कथन किया गया है, मूर्ति पूजा के लिये बिन्दु विसर्ग तक भी नहीं है और तो क्या किन्तु यहां स्नानाधिकार में आपका प्रिय 'कयबलि कम्मा' शब्द भी नहीं है फिर निर्युक्तिकार का यह कथन कैसे सत्य हो सकता है ? यहां तो यह निर्युक्ति मूर्ति-पूजक विद्वानों के स्वार्थ साधन की शिकार बनकर 'निर्गतायुक्तिर्यया' अर्थात् निकल गई है युक्ति जिससे (युक्ति रहित) ऐसी ही ठहर-ती है इससे अधिक कहने की आवश्यक्ता नहीं।

मू० पू० का यह पाठ होने से ही ३२ सूत्रों के सिवाय ग्रंथ आदि भी हमको मान्य नहीं ऐसी आपकी शंका भी ठीक नहीं है। आपको स्मरण रहे कि ३२ सूत्रों के सिवाय भी जो सूत्र, ग्रंथ, टीका, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, दीपिका, अवचूरि आदि वीतराग वचनों को अबाधक हो तथा आगम के आशय को पुष्ट करने वाले हों तो हमें उनको मानने में कोई बाधा नहीं है। किन्तु जो अंश सर्वज्ञ वचनों को बाधक और बनावटी या प्रक्षिप्त होकर आगम वाणी को ठेस पहुंचाने वाला हो वह अनर्थोत्पादक होने से हमें तो क्या पर किसी भी विज्ञ के मानने योग्य नहीं है। इन टीका आदि ग्रंथों में कई स्थान पर आगमाशय रहित भी विवेचन या कथन हो गया है, इसी लिये ये ग्रंथ सम्पूर्ण अंश में मान्य नहीं है, टीका आदि के बहाने से स्वार्थी लोगों ने बहुत कुछ गोटाला कर डाला है। जिनको कसौटी पर कसने से शीघ्र ही कलाई खुल जाती है, अतएव ऐसे बाधक अँश तो अवश्य अमान्य है।

मेरा तो यह दृढ विश्वास है कि ऐसी बिना सिर पैर की बात मूल निर्युक्तिकार की नहीं होगी, पीछे से किसी महाशय ने यह चतुराई (?) की होगी, ऐसे चतुर महाशयों ने शुद्ध स्वर्ण में तांबे की तरह मूल में भी प्रतिकूल वचन रूप धूल मिलाने की चेष्टा की है, जो आगे चल कर बताई जायगी।

श्रेणिक राजा का नित्य १०८ स्वर्ण जौ से पूजने का कथन भी इसी प्रकार निर्मूल होने से मिथ्या है, यदि लेखक १०८ के बदले एक क्रोड़ आठ लाख भी लिख मारते तो उन्हें

रोकने वाला कोई नहीं था ! किन्तु जब विद्वान लोग इस कथन को वीतराग वाणी रूप कसौटी पर कस कर देखेंगे तब यह स्पष्ट पाया जायगा कि मूर्ति-पूजा के प्रचारकों ने मूर्ति की महिमा फैलाने के लिये इसे महान् पुरूषों के जीवन में जोड़ कर जहां तहां ऐसे उल्लेख कर दिये हैं। इससे पाया जाता है कि यह स्वर्ण जौ का कथन भी भरतेश्वर के कल्पना चित्र की तरह अज्ञान लोगो को भ्रम में डालने का साधन मात्र है। श्रेणिक की जिन-मूर्ति पूजा तो इन्हीं के वचनों से मिथ्या ठहरती है, क्योंकि—

एक तरफ तो ये लोग किसी प्रकार के विधान बिना ही मू० पू० करने से बारवा स्वर्ग प्राप्त होने का फल विधान करते हैं। और दूसरी तरफ श्रेणिक राजा को सदैव १०८ स्वर्ण से पूजने की कथा भी कहते हैं, इस हिसाब से तो श्रेणिक को स्वर्ग प्राप्ति होनी ही चाहिये ! जब कि मामूली चावलों से पूजने वाला भी स्वर्ग में चला जाता है तो स्वर्ण जौ से पूजने वाला देवलोक में जाय इसमें आश्चर्य ही क्या ? किन्तु हमारे प्रेमी पाठक यदि आगमों का अवलोकन करेंगे या इन्हीं मूर्ति पूजक बन्धुओं के मान्य ग्रन्थों को देखेंगे तो आप श्रेणिक को नर्क गमन करने वाला पायेंगे ? इसीसे तो ऐसे कथानक की कल्पितता सिद्ध होती है।

इन के मान्य ग्रन्थकार ही यह बतलाते हैं कि जब प्रभु महावीर ने श्रेणिक को यह फरमाया कि यहा से मरकर तुम नर्क में जावोगे, तब यह सुनकर श्रेणिक को बड़ा दुःख हुआ उसने प्रभु से नर्क निवारण का उपाय पूछा, प्रभु ने चार मार्ग

बताये। १ नौकारसी प्रत्याख्यान स्वयं करें २ कपलादासी अपने हाथों से मुनि को दान देवे, कालसौरिक कसाई नित्य ५०० भैंसे मारता है एक दिन के लिये भी हिंसा रुक-वादे, ४ पूणिया श्रावक की एक सामायिय खरीद ले, इस प्रकार चार उपाय वताये, किन्तु इनमें मूर्ति-पूजा कर नर्क निवारण का कोई मार्ग नहीं बताया। क्या प्रभु को भी मूर्ति-पूजा का मार्ग नहीं सूझा? बारहवां नहीं तो पहला स्वर्ग ही सही। इसे भी जाने दीजिये, पुनः मानव भव ही सही। इतना भी यदि हो सकता तो प्रभु अवश्य मूर्ति-पूजा का नाम इन चार उपायों में, या पृथक पांचवां उपाय ही बतलाकर सूचित करते किन्तु जब मूर्ति-पूजा उपादेय ही नहीं तो वतलावे कहां से, अतएव स्पष्ट सिद्ध हो गया कि निर्युक्ति के नाम से यह कथन केवल काल्पनिक ही है।

प्रदेशी राजा ने अपने भंयकर पापों का नाश केवल, दया दान त्याग वैराग्य, तपश्चर्या आदि द्वारा ही किया है, उसने भी अपने स्वर्ग गमन के लिये किसि मन्दिर का निर्माण नहीं कराया, न मूर्ति ही स्थापित की, न कभी पूजा आदि भी की।

सुमुख गाथापति केवल मुनिदान से ही मानवभव प्राप्त कर मोक्ष मार्ग के सम्मुख हुआ, मेघकुँवर ने दया से ही संसार परिमित कर दिया, इसी प्रकार मेतार्य मुनि, मेघरथ राजा आदि के उदाहरण जगत प्रसिद्ध ही है, तपश्चर्या से धन्नाअणगार आदि अनेक महान् अत्माओं ने सुगति लाभ की है, यहां तक कि अनेक निरपराध नरनारियों की राक्षसी हिंसा कर डालने वाला अर्जुन माली भी केवल छः माह में

ही उपार्जित पापों का नाश कर मोक्ष जैसे अलभ्य और शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है, भव भयहारिणी शुद्ध भावना से भरतेश्वर सम्राट ने सर्वज्ञता प्राप्त करली, ऐसे धर्म के चार मुख्य एवं प्रधान अंगों का आराधन कर अनेक आत्माओं ने आत्म कल्याण किया है किन्तु मूर्ति-पूजा से भी किसी की मुक्ति हुई हो ऐसा एक भी उदाहरण उभयमान्य साहित्य में नहीं मिलता, यदि कोई दावा रखता हो तो प्रमाणित करे।

इस स्वर्ण जौ की कहानी से तो महानिशीथ का फल विधान असत्य ही ठहरता है, क्योंकि—महानिशीथकार तो सामान्य पूजा से भी स्वर्ग प्राप्ति का फल विधान करते है और स्वर्ण जौ से नित्य पूजने वाला श्रेणिक राजा जाता है नर्क में, यह गड़बड़ाध्याय नहीं तो क्या है ? अतएव भरतेश्वर और श्रेणिक के मूर्ति पूजन सम्बन्धी कल्पित कथानक का प्रमाण देने वाले वास्तव में अपने हाथों अपनी पोल खुली करते है, ऐसे प्रमाण फूटी कौड़ी की भी कीमत नहीं रखते।



१०-'महाकल्प का प्रायश्चित विधान'

प्रश्न—महाकल्प सूत्र में श्री गौतम स्वामी के पूछने पर प्रभु ने फरमाया कि--साधु और श्रावक सदैव जिन-मंदिर में जावे, यदि नहीं जावे तो छट्ठा या बारहवां प्रायश्चित आता है, यह मूल पाठ की बात आप क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—यह कथन भी असत्य प्रतीत होता है, क्योंकि जिसकी विधि ही नहीं, उस कार्य के नहीं करने पर प्रायश्चित किस प्रकार आ सकता है ? यहां तो कमाल की सफाई की गई है।

अब इस कथन को भी कसौटी पर चढ़ाकर सत्यता की परीक्षा की जाती है।

इन्हीं मूर्ति-पूजकों के महानिशीथ में मूर्ति-पूजा से बारहवें स्वर्ग की प्राप्ति-रूप फल विधान और महाकल्प में नहीं पूजने (दर्शन नहीं करने) पर प्रायश्चित विधान किया गया है, इन दोनों बातों को इसी महानिशीथ की कसौटी पर कसकर चढ़ाई हुई कलई खोली जाती है, देखिये—

महानिशीथ के कुशील नामक तीसरे अध्ययन में लिखा है कि—

'द्रव्यस्तव जिन-पूजा आरंभिक है और भावस्तव (भावपूजा) अनारंभिक है, भले ही मेरु पर्वत समान स्वर्ण प्रासाद बनावे, भले प्रतिमा बनावे, भले ही ध्वजा, कलश, दड, घंटा, तोरण आदि बनावे, किन्तु ये भावस्तव मुनिव्रत के अनन्तवें भाग में भी नहीं आ सकते हैं'।

आगे चलकर लिखा है कि—

'जिन मन्दिर, जिन प्रतिमा आदि आरम्भिक कार्यों मे भावस्तव वाले मुनिराज खड़े भी नहीं रहे, यदि खड़े रहे तो अनंत संसारी बने'।

पुन: आगे लिखा है कि—

'जिसने समभाव से कल्याण के लिए दीक्षा ली फिर मुनिव्रत छोड़कर न तो साधु में और न श्रावक में ऐसा उभय भ्रष्ट नामधारी कहे कि मै तो तीर्थंकर भगवान की प्रतिमा की जल, चन्दन, अक्षत, धूप, दीप, फल, नैवेद्य आदि से पूजा कर तीर्थों की स्थापना कर रहा हू तो ऐसा कहने वाला भ्रष्ट श्रमण कहलाता है, क्योंकि वह अनंतकाल पर्यंत चतुर्गति रूप संसार मे परिभ्रमण करेगा'।

इतना कहने के पश्चात् पाचवे अध्ययन मे लिखा है कि—

'जिन पूजामें लाभ है ऐसी प्ररूपणा जो अधिकता से करे और इस प्रकार स्वयं और दूसरे भद्रिक लोगों से फल, फूलों का आरम्भ करे तथा करावे तो दोनों को सम्यक्त्व बोध दुर्लभ हो जाता हैं'

इत्यादि खण्डनात्मक कथन जिस महानिशीथ में है उस के सामने यह महाकल्प का प्रायश्चित विधान महाकाल्पनिक ही प्रतित होता है।

यद्यपि महानिशीथ और महाकल्प की नोंध नंदी सूत्र में है, तथापि यह ध्यान में रखना चाहिये कि सभी सूत्र अब तक ज्यों के त्यों मूलस्थिति में नहीं रहे हैं, इनमें बहुतसा अनिष्ठ परिवर्तन भी हुआ है। हमारे कितने ही ग्रन्थ तो आक्रमण कारी आततायियों द्वारा नष्ट हो गये हैं। फिर भी जितने बचकर रहे वे भी एक लम्बे समय से (चैत्यवाद और चैत्यवास प्रधान समय से) मूर्ति-पूजकों के ही हाथ में रहे। यद्यपि सूत्र के एक वर्ण विपर्यास को भी अनंत संसार का कारण बताया गया है, तथापि धर्म के नाम पर वैभव विलास के इच्छुक महाशयों ने सूत्रों के पाठों में परिवर्तन और नूतन प्रक्षेप करने में कुछ भी न्यूनता नहीं रक्खी। इस विषय में मात्र एक दो प्रमाण यहां दिये जाते हैं, देखिये—

(१) मूर्ति-पूजक विजयानन्दसूरि स्वयं 'जैन तत्वादर्श' पृष्ठ ५८५ पर लिखते हैं कि—

विजयदान सूरि ने एकादशांग अनेक बार शुद्ध किये।

(२) पुनः पृष्ठ ३१२ पर लिखते हैं कि—

सर्व शास्त्रों की टीका लिखी थी वो सर्व विच्छेद होगई

(३) महानिशीथ के विषय में मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर पृ० १८७ में लिखा है कि—

ते सूत्र नो पाछलनो भाग लोप थई जवाथी पोताने जेट-लुं मली आव्युं तेटलुं जिनाज्ञा मुजब लखी दीधुं।

सिवाय इसके महानिशीथ की भाषा शैली व बीच में आये हुए आचार्यों के नाम भी इसकी अर्वाचीनता सिद्ध करते हैं।

इत्यादि पर से स्पष्ट होता है कि आगमविरुद्ध वीतराग वचनों का बाधक अंश शुद्धि तथा पूर्ण करने के बहाने से या अपनी मान्यता रूप स्वार्थ पोषण की इच्छासे कई महानुभावों ने सूत्रों में घुलाकर वास्तविकता को बिगाड़ डाला है, यही अधम कार्य आज भयंकर रूप धारण कर जैन-समाज को छिन्न भिन्न कर विरोध कलह आदि का घर बना रहा है।

जब कि आगमों में मूर्ति पूजा करने का विधिविधान बताने वाली आप्त आज्ञा के लिये बिन्दु विसर्ग तक भी नहीं है, तब ऐसे स्वार्थियों के झपाटे में आये हुए ग्रन्थों में फल विधान का उल्लेख मिले तो इससे सत्यान्वेषी और प्रायश्चित जनता पर कोई असर नहीं हो सकता। किसी भी समाज को देखिये उनका जो भी धर्म कृत्य है वे सभी विधि रूप से वर्णन किये हुए मिलेंगे, जिस प्रवृत्ति का विधि वाक्य ही नहीं वह धर्म कैसा? और उसके नहीं करने पर प्रायश्चित भी क्यों?

सोचिये कि—एक राजा अपनी प्रजा को राजकीय नियम तथा कायदे नहीं बतावे और उसके पालन करने की विधि से भी अनभिज्ञ रक्खे फिर प्रजा को वैसा नियम पालन नहीं करने के अपराध में कारावास में ठूंस कर कठोर यातना देवे तो यह कहां का न्याय है ? क्या ऐसे राजा को कोई न्यायी कह सकता है ? नहीं ! बस इसी प्रकार तीर्थंकर प्रभू मूर्ति-पूजा करने की आज्ञा नहीं दे, और न विधि विधान ही बतावे, फिर भी नहीं पूजने पर दण्ड विधान करें ? यह हास्यास्पद बात समझदार तो कभी भी मान नहीं सकता।

अतएव महाकल्प के दिये हुए प्रमाण की कल्पितता में कोई संदेह नहीं, और इसीसे अमान्य है।

× × × × × × ×

इस प्रकार हमारे मूर्ति-पूजक बन्धुओं द्वारा दिये जाने वाले आगम प्रमाणों पर विचार करने के पश्चात् इनकी युक्तियों की परीक्षा करने के पूर्व निवेदन किया जाता है कि—

किसी भी वस्तु की सच्ची परीक्षा उसके परिणाम पर विचार करने से ही होती है, जिस प्रवृत्ति से जन-समाज का हित और उत्थान हो, वह तो आदरणीय है, और जो प्रवृत्ति अहित, पतन वैसे ही दुःखदाता हो वह तत्काल त्यागने योग्य है।

प्रस्तुत विषय (मूर्ति-पूजा) पर विचार करने से यह हेयपद्धति ही सिद्ध होती है, आज यदि मूर्ति-पूजा की भंयकरता पर विचार किया जाय तो रोमांच हुए विना नहीं रहता।

आजके विकट समय में देश की अपार सम्पत्ति का ह्रास इस मूर्ति-पूजा द्वारा ही हुआ है, मूर्ति के आभूषण मन्दिर

निर्माण, प्रतिष्ठा, यात्रा संघ निकालना, आदि कार्यों में अर-ब्रों रुपयों का व्यर्थ व्यय हुआ है और प्रति वर्ष लाखों का होता रहता है, ऐसे ही लाखों रुपये जैन समाज के इन मन्दिर मूर्ति और पहाड़ आदि की आपसी लड़ाई में भी हर वर्ष स्वाहा हो रहे हैं। प्रति वर्ष साठ हजार रुपये तो अकेले पालीताने के पहाड़ के कर के ही देने पडते है, भाई भाई का दुश्मन बनता है, भाई भाई की खून खराबी कर डालता है, यहां तक कि इन मन्दिर मूर्तियों के अधिकार के लिये भाई ने भाई का रक्तपात भी करवा दिया है जिसके लिये केशरिया हत्याकांड का काला कलंक मू० पू० समाज पर अमिट रूप से लगा हुआ है। इन मन्दिरों और मूर्तियों के लिये इनके आगमोद्धारक आचार्य देवरक्त से मन्दिर को धोकर पवित्र कर डालने की उपदेश धारा बहा कर जैनागम रहस्य ज्ञाता होने का नीत (?) परिचय देते हैं। ऐसी सूरत में ये मन्दिर और मूर्तियें देश का क्या उत्थान और कल्याण करेंगे ???

जहा देश के अगणित बन्धु भूखे मरते हैं और तड़फ २ कर अन्न और वस्त्र के लिये प्राण खो देते हैं वहां इन शूर वीरों को लाखों रुपये खर्च कर संघ निकालने में ही आत्म कल्याण दिखाई देता है, यह कहां की बुद्धिमत्ता है ?

इस देश में गुलामी का आगमन प्राय मूर्ति पूजा की अधिकता से ही हुआ है और हुई है करोड़ों हरिजनों की पशु से भी बदतर दशा ? ऐसी स्थिति में यह मूर्ति पूजा त्यागने योग्य ही ठहरती है।

कितने ही महानुभाव यह कहते हैं कि—हम मूर्ति पूजा नहीं करते किन्तु मूर्ति द्वारा प्रभु पूजा करते हैं। किन्तु यह

कथन भी सत्य से दूर है। वास्तव में तो ये लोग मूर्ति ही की पूजा करते हैं, और साथ ही करते हैं वैभव का सत्कार यदि आप देखेंगे तो मालूम होगा कि जहां मूर्ति के मुकुट कुण्डलादि आभूषण बहुमूल्य होंगे, जहां के मंदिर विशाल और भव्य महलों को भी मात करने वाले होंगे जहां की सजाई मनोहर और आकर्षक होगी वहां दर्शन पूजन करने वाले अधिक संख्या में जायंगे, अथवा जहां के मंदिर मूर्ति के चमत्कार की झूठी कथाएं और महात्म्य अधिक फैल चुके होंगे वहां के ही दर्शक पूजक अधिकाधिक मिलेंगे ऐसे ही मंदिरों मूर्तियों की यात्रा के लिए लोग अधिक जावेंगे, संघ भी ऐसे ही तीर्थों के लिए निकलेंगे, किन्तु जहां मामूली झोंपड़े में आभूषण रहित मूर्ति होगी, जहां चित्रशाला जैसी सजाई नहीं होगी, जहां की कल्पित चमत्कारिक किंवदंतिये नहीं फैली होगी, जहां के मंदिरों की व मूर्ति की प्रतिष्ठा नहीं हुई होगी ऐसी मूर्तियों व मंदिरों को कोई देखेगा भी नहीं ! देखना तो दूर रहा वहां की मूर्तियें अपूज्य रह जायगी, वहां के ताले भी कभी २ नौकर लोग खोल लिया करें तो भले ही किन्तु उस गांव में रहने वाले पूजक भी अन्य सजे सजाये आकर्षक मंदिरों की अपेक्षा कर इन गरीब और कंगाल मंदिरों के प्रति उपेक्षा ही रखते हैं ऐसे मंदिरों की हालत जिस प्रकार किसी धनाढ्य के सामने निर्धन और भूखे दरिद्रों की होती है बस इसी प्रकार की होती है। जिसके साक्षात् प्रमाण आज भी भारत में एक तरफ तो क्रोड़ों की सम्पत्ति वाले, बड़े २ विलास भवन और रंग महल को भी मात करने वाले जैन मंदिर, और दूसरी ओर कई स्थानों के अपूज्य दशा में रहे हुए इन्हीं तीर्थंकरों की मूर्तियों वाले

निर्धन जैन मंदिर है। अतएव सिद्ध हुआ कि- ये मूर्ति पूजक बन्धु वास्तव में मूर्ति पूजक ही हैं, और मूर्ति के साथ वैभव विलास के भी पूजक हैं। यदि इनके कहे अनुसार ये मूर्ति-पूजक नहीं होकर मूर्ति द्वारा प्रभु पूजक होते तो इनके लिए वैभव सजाई आदि की अपेक्षा और उपादेयता क्यों होती? प्रतिष्ठा की हुई और अप्रतिष्ठित का भेद भाव क्यों होता? क्या अप्रतिष्ठित मूर्ति द्वारा ये अपनी प्रभु पूजा नहीं कर सकते? किन्तु यह सभी झूठा बवाल है। मूर्ति के जरिये से ही पूजा होने का कहना भी झूठ है प्रभु पूजा में मूर्ति फोटो आदि की आवश्यकता ही नहीं है, वहां तो केवल शुद्धान्त:करण तथा सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता है जिसको सम्यग्ज्ञान है, वह सम्यक् क्रिया द्वारा आत्मा और परमात्मा की परमोत्कृष्ट पूजा कर सकता है। मूर्ति पूजा कर उसके द्वारा प्रभु को पूजा पहुंचाने वाले वास्तव में लकड़ी या पाषाण के घोड़े पर बैठकर दुर्गम मार्ग को पार कर इष्ट पर पहुंचने की विफल चेष्टा करने वाले मूर्खराज की कोटि से भिन्न नहीं है।

इतने कथन पर से पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि मूर्ति पूजा वास्तव में आत्म कल्याण में साधक नहीं किन्तु बाधक है, जब कि—यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो चुका कि मूर्ति पूजा के द्वारा हमारा बहुत अनिष्ट हुवा और होता जारहा है फिर ऐसे नग्न सत्य के सम्मुख कोई कुतर्क ठहर भी नहीं सकती किन्तु प्रकरण की विशेष पुष्टि और शंका को निर्मूल करने के लिए कुछ प्रचलित खास २ शंकाओं का प्रश्नोत्तर द्वारा समाधान किया जाता है, पाठक धैर्य एवं शान्ति से अवलोकन करें।

११-क्या शास्त्रों का उपयोग करना भी मू० पू० है ?



प्रश्न—शास्त्र को जिनवाणी और ईश्वर वाक्य मान कर उनको सिर पर चढाने वाले आप मूर्ति-पूजा का विरोध कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर—यह प्रश्न भी वस्तुस्थिति की अनभिज्ञता का परिचय देने वाला है, क्योंकि कोई भी समझदार मनुष्य कागज और स्याई के बने हुए शास्त्रों को ही जिनवाणी या ईश्वर वाक्य नहीं मानता, न पुस्तक पन्ने ही सर्वज्ञ बचन है, हां पुस्तक रूप में लिखे हुए शास्त्र पढ़ने या भूले हुए को याद कराने में भी साधन रूप अवश्य होते हैं और उनके उपयोग की मर्यादा भी पढ़ने पढाने तक ही है किन्तु उनको ही जिनवाणी मान कर वन्दन नमन करना या सिर पर उठा कर फिरना यह तो केवल अन्ध भक्ति ही है क्योंकि वन्दनादि सत्कार ज्ञानदाता आत्मा का ही किया जाता है। हमारी इस मान्यता के अनुसार हमारे मूर्ति-पूजक बन्धु भी यदि

मूर्ति को मूर्ति दृष्टि से देखने मात्र तक ही सीमित रक्खा तो फिर भी उतनी मूर्खता से क्या बच सकते हैं, यह स्मरण रहे कि—जिस प्रकार शास्त्रों का पठन पाठन रूप उपयोग ज्ञान वृद्धि में आवश्यक है इस प्रकार मूर्ति आवश्यक नहीं शास्त्र द्वारा अनेकों का उपकार हो सकता है क्योंकि साहित्य द्वारा ही अजैन जनता में भारत के भिन्न २ प्रांतों और विदेशों में रहने वालों में जैनत्व का प्रचार प्रचूरता से हो सकता है। मनुष्य चाहे किसी भी समाज या धर्म का अनुयायी हो, किन्तु उसकी भाषा में प्रकाशित साहित्य जब उस के पास पहुंच कर पठन पाठन में आता है तो उससे उसे जैनत्व के उदार एव प्राणी मात्र के हितैषी सिद्धान्तों की सच्ची श्रद्धा हो जाती है इस से जैन सिद्धान्तों का अच्छा प्रभाव होता है, आज भारत या विदेशों के जैनेतर विद्वान जो जैन धर्म पर श्रद्धा की दृष्टि रखते हैं यह सब साहित्य प्रचार (जो स्वल्प मात्रा में हुआ है) से ही हुआ है इसलिये जड़ होते हुए भी सभी को एक समान विचारोत्पादक शास्त्र जितने उपकारी हो सकते हैं उनकी अपेक्षा मूर्ति तो किञ्चित मात्र भी उपकारक नहीं हो सकती, आप ही बताईये कि अजैनों में मूर्ति किस प्रकार जैनत्व का प्रचार कर सकती है? आज तक केवल मूर्ति से ही किञ्चित् मात्र भी प्रचार हुआ हो तो बताईये।

प्रचार जो होता है वह या तो उपदेशकों द्वारा या साहित्य प्रचार से ही मूर्ति को नहीं मानने वालों की आज संसार में बड़ी भारी संख्या है वैसे साहित्य प्रचार को नहीं

मानने वालों की कितनी संख्या है ? कहना नहीं होगा कि साहित्य प्रचार को नहीं मानने वाली अभागी समाज शायद ही कोई विश्व में अपना अस्तित्व रखती हो। आज पुस्तक द्वारा दूर देश में रहा हुआ कोई व्यक्ति अपने से भिन्न समाज, मत, धर्म के नियमादि सरलता से जान सकता है परन्तु यह कार्य मूर्ति द्वारा होना असंभव को भी संभव बनाने सदृश है, जिस प्रकार अनपढ़ के लिये शास्त्र व्यर्थ है उसी प्रकार मूर्ति-पूजा अजैनों के लिये ही नहीं किन्तु श्रुतज्ञान रहित मूर्ति पूजकों के लिये भी व्यर्थ है। मूर्ति-पूजक बंधु जो मूर्ति को देखने से ही प्रभु का याद आना कहते हैं, यह भी मिथ्या कल्पना है, यदि बिना मूर्ति देखे प्रभु याद नहीं आते हो तो मूर्ति पूजक लोग कभी मन्दिर को जा ही नहीं सकते क्योंकि मूर्ति तो मन्दिर में रहती है और घरमें या रास्ते चलते फिरते तो दिखाई देती नहीं जब दिखाई ही नहीं देती तब उन्हें याद कैसे आसके? वास्तव में इन्हें याद तो अपने घर पर ही आजाती है जिससे ये लोग तान्दुल आदि लेकर मन्दिर को जाते हैं। अतएव उक्त कथन भी अनुपादेय है।

जिनको तीर्थंकर प्रभु के शरीर या गुणों का ध्यान करना हो उनके लिये तो मूर्ति अपूर्ण और व्यर्थ है। ध्याता को अपने हृदय से मूर्ति को हटाकर औपपातिक सूत्र में बताये हुए तीर्थंकर स्वरूप का योग शास्त्र में बताए अनुसार ध्यान करना चाहिये, मूर्ति के सामने ध्यान करने से मूर्ति ध्याता का ध्यान रोक रखती है, अपने से आगे नहीं बढ़ने देती, यह प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध बात है। अतएव मूर्ति पूजा करणीय सिद्ध नहीं हो सकती।

११—अवलम्बन

प्रश्न—बिना अवलम्बन के ध्यान नहीं हो सकता इस लिए अवलम्बन रूप मूर्ति रखी जाती है, मूर्ति को नहीं मानने वाले ध्यान किस तरह कर सकते हैं?

उत्तर—ध्यान करने में मूर्ति की कुछ भी आवश्यकता नहीं, जिन्हें तीर्थंकर के शरीर और बाह्य अतिशय का ध्यान करना है वे सूत्रों से उनके शरीर और अतिशय का वर्णन जान कर अपने विचारों से मनमें कल्पना करे और फिर तीर्थंकरों के भाव गुणों का चिन्तन करे बिना अनन्तज्ञानादि भाव गुणों का चिन्तन किये, अतिशयादि बाह्य वस्तुओं का चिन्तन अधिक लाभकारी नहीं हो सकता। ध्यान मे यह विचार करे कि प्रभु ने किस प्रकार घोर एवं भयकर कष्टों का सामना कर वीरता पूर्वक उनको सहन किये, और समभाव युक्त चारित्र का पालन कर ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय रूप गुण प्राप्त किये, ज्ञानावरणीयादि कर्मों की प्रकृति, उनकी भयकरता आदि पर विचार कर शुभ गुणों को प्राप्त करने की भावना

करे, ज्ञानी पुरुषों की स्तुति करे, इस प्रकार सहज ही में ध्यान हो सकता है, और स्वयं ध्येय ही आलंबन बन जाता है, किसी अन्य आलंबन की आवश्यकता नहीं रहती। इसके सिवाय अनित्यादि बारह प्रकार की भावनाएं, प्रमोदादि चार अन्य भावनाएं, प्राणी मात्र का शुभ एवं हितचिन्तक, स्वात्म निन्दा, स्वदोष निरीक्षण आदि किसी एक ही विषय को लेकर यथाशक्य मनन करने का प्रयत्न किया जाय और ऐसे प्रयत्न में सदैव उतरोत्तर वृद्धि की जाय तो अपूर्व आनन्द प्राप्त हो कर जीव का उत्थान एवं कल्याण हो सकता है। ऐसी एक २ भावना से कितने ही प्राणी संसार समुद्र से पार होकर अनन्त सुख के भोक्ता बन चुके हैं। ऐसे धर्म ध्यानों में मूर्ति की किंचित् मात्र भी आवश्यकता नहीं, ध्येय स्वयं आलंबन बन जाता है। शरीर को लक्ष्य कर ध्यान करने वाले को श्री केशरविजयजी गणि कृत गुजराती भाषांतर वाली चौथी आवृत्ति के योग शास्त्र पृ० ३४६ में 'आकृति ऊपर एकाग्रता' विषयक निम्न लेख को पढ़ना चाहिये,—

"कोई पण पूज्य पुरुष उपर भक्ति वाला माणसो घणी सहेलाई थी एकाग्रता करी शके छे धारो के तमारी खरी भक्ति नी लागणी भगवान महावीर देव उपर छे तेओ तेमनी छद्मस्थावस्था मां राजगृहीनी पासे आवेला वैभार गिरि नी पहाड़नीएक गीच झाड़ी वाला प्रदेश मां आत्म ध्यान मां लीन थई उभेला छे आस्थले वैभार गिरि गीच झाड़ी सरिता ना प्रवाहो नो धोध अनेतेनी आजु बाजु नो हरियालो शान्त अने रमणीय प्रदेश आसर्व तमारा मानसिक विचारो थी कल्पो, आ कल्प-

ना शुरुआत मां मनने खुश राखनार छे, पछी प्रभु महावीर नी पगथी ते मस्तक पर्यंत सर्व आकृति एक चितारो जेम चितरतो होय तेम हलवे हलवे ते आकृति नु चित्र तमारा हृदय पट पर चितरो, आलेखो, अनुभवो आकृति ने तमे स्पष्ट पणे देखता हो तेटली प्रबल कल्पना थी मनमां आलेखी तेना उपर तमारा मनने स्थिर करी राखो मुहूर्त पर्यंत ते उपर स्थिर थया खरेखर एकाग्रता थशे'।

इसके सिवाय इसी योग शास्त्र के नवम प्रकाश में रूपस्थ ध्यान के वर्णन में प्रारम्भ के सात श्लोकों द्वारा पृ० ३७१' में ध्यान करने की विधि इस प्रकार बताई गई है।

मोक्ष श्रीसंमुखीनस्य, विध्वस्ताखिल कर्मणः।
चतुर्मुखस्य निःशेष, भुवनाभयदायिनः॥ १॥
इन्दु मण्डल शंकाशच्छत्र त्रितय शालिनः॥
लसद् भामण्डला भोग विडंबित विवस्वतः॥ २॥
दिव्य दुंदुभि निर्घोष गीत साम्राज्यसम्पदः
रणद् द्विरेफ झंकार मुखराशाकशोभिनः॥ ३॥
सिंहासन निषण्णस्य वीज्य मानस्य चामरैः॥
सुरासुर शिरोरत्न, दीप्तपादनखद्युते,॥४॥
दिव्य पुष्पोत्कराऽकीर्ण, संकीर्णपरिषद्भुवः।
उत्कंधरैर्मृगकुलैः पीयमानकलध्वनैः॥५॥
शांत वैरेभ सिंहादि, समुपासित संनिधे ।

प्रभोः समवसरणे, स्थितस्य परमेष्ठिनः ॥६॥
सर्वातिशय युक्तस्य केवल ज्ञान भास्वतः।
अर्हतो रुपमालम्ब्य, ध्यानं रूपस्थ मुच्यते ।७॥

इन सात श्लोकों में बताए अनुसार साक्षात् समवसरण में विराजे हुए सम्पूर्ण अतिशय वाले नरेन्द्र, देवेन्द्र तथा पशु पक्षी मनुष्य आदि से सेवित तीर्थंकर प्रभु का ही अवलंबन कर जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं।

उक्त प्रकार से सच्ची आकृति को लक्ष्य कर उत्तम ध्यान किया जासकता है। ऐसे ध्यान में मूर्ति की तनिक भी आवश्यकता नहीं, स्वयं चारों निक्षेप की मात्र आकृति ही आलंबन बन जाती है, ऐसे ध्यान कर्ता को कोई बुरा नहीं कह सकता।

जो मूर्ति का आलंबन लेकर ध्यान करने का कहते हैं। वे ध्यान नहीं करके लक्ष्य चूक बन जाते हैं, क्योंकि ध्याता का ध्यान तो मूर्ति पर ही रहता है, वह मूर्ति ध्याता को अपने से आगे नहीं बढ़ने देती, ध्याता के सन्मुख मूर्ति होने से ध्यान में भी वही पाषाण की मूर्ति हृदय में स्थान पा लेती हैं, इससे वह ध्येय में ओट बन कर उसको वहां तक पहुंचने ही नहीं देती, जैसे एक निशाने बाज किसी वस्तु को लक्ष्य कर निशाना मारता है तो लक्ष्य को वेध सकता है। अर्थात् उसका निशाना लक्षित वस्तु तक पहुंच सकता है,

किन्तु वही निशानेबाज लक्षित वस्तु का ५० का
शाना मारते समय अपने व लक्ष्य के बीच में कुछ दूसरी वस्तु ओट की तरह रख कर उसीकी ओर निशाना मारे या बीच में दिवाल खड़ी कर फिर निशाना चलावे तो उसका निशाना वह दिवाल रोक लेती है जिससे यह लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है, इसी प्रकार मूर्ति को सामने रख कर ध्यान करने वाले के लिये मूर्ति, दिवाल (ओट) का काम करके ध्याता का ध्यान अपने से आगे नहीं बढ़ने देती। बिना मूर्ति के किया हुआ ध्यान ही अर्हत् सिद्ध रूप लक्ष्य तक पहुंच कर चित्त को प्रसन्न और शांत कर सकता है, अतएव ध्यान में मूर्ति की आवश्यकता नहीं है।

शास्त्रों में भरतेश्वर, नमिराज, समुद्रपाल आदि महापुरुषों का वर्णन आता है, वहा यह बताया गया है कि उन्होंने बिना इस प्रचलित जड़ मूर्ति के मात्र भावना से ही संसार छोड़ा और चारित्र स्वीकार कर आत्म कल्याण किया है, भरतेश्वर ने अनित्य भावना से केवलज्ञान प्राप्त किया किन्तु उन्हें किसी मूर्ति विशेष के आलंबन लेने की आवश्यकता नहीं हुई, अतएव ध्याता को ध्यान करने में मूर्ति की आवश्यकता है ऐसे कथन एक दम निस्सार होने से बुद्धि गम्य नहीं है।



१३—'नामस्मरण और मूर्ति-पूजा'



प्रश्न—जिस प्रकार आप नामस्मरण करते हैं उसी प्रकार हम मूर्ति-पूजा करते हैं, यदि मूर्ति-पूजा से लाभ नहीं तो नामस्मरण से क्या लाभ ? जैसे "मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर" पृ० ५७ पर लिखा है कि—

"जेम कोई पुरुष हे गाय दूध दे, एम केवल मुखे थी उच्चारण करे तो तेने दूध मले के नहीं ? तमे कहेशो के नहीं, त्यारे परमेश्वर ना नाम थी के जाप थी पण कांई कार्य सिद्ध नहीं थाय तो पछी तमारे परमात्मा नुं नाम पण न लेवुं जोइए।

इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—यह तो प्रश्नकर्त्ता की कुतर्क है और ऐसी ही कुतर्क श्रीमान् लब्धिसूरिजी ने भी की थी जो कि "जैन सत्य प्रकाश में प्रकट हो चुकी है, इन महानुभावों को यह भी मालूम नहीं कि—'कोई भी समझदार मनुष्य खाली तोता

रटन रूप नाम स्मरण को उच्च फल प्रद नहीं ... ता, । युक्त स्मरण ही उत्तम कोटि का फलदाता है। किन्तु भाव युक्त भजन के आगे तोते की तरह किया हुवा नामस्मरण किंचित् मात्र होते हुए भी मूर्ति पूजा से तो अच्छा ही है, क्योंकि केवल वाणी द्वारा किया हुआ नामस्मरण भी 'वाणी-सुप्रणिधान' तो अवश्य है, और 'वाणीसुप्रणिधान' किसी २ समय 'मन. सुप्रणिधान' का कारण बन जाता है, और मूर्ति पूजा तो प्रत्यक्ष में 'काय-दुष्प्रणिधान' प्रत्यक्ष है, साथ ही मन'दुष्प्रणिधान की कारण बन सकती है, क्योंकि—पूजा में आये हुए पुष्पादि घ्राणेन्द्रिय के विषय का पोषण करने वाले हैं, मनोहर सजाई, आकर्षक दीपराशी और नृत्यादि नेत्रेन्द्रिय को पोषण दे ही देते हैं, वाजिन्त्र और सुरीले तान टप्पे कर्णेन्द्रिय को लुभाने में पर्याप्त हैं, स्नान शरीर विकार बढ़ाने का प्रथम शृंगार ही है, इस प्रकार जिस मूर्ति पूजा में पांचों इन्द्रियों के विषय का पोषण सुलभ है वहां मनदुष्प्रणिधान हो तो आश्चर्य ही क्या है? वहां हिंसा भी प्रत्यक्ष है, अतएव मूर्ति पूजा शरीर और मन दोनों को बुरे मार्ग में लगाने वाली है, कर्म-बंधन में विशेष जकड़ने वाली है, इससे तो केवल वाणी द्वारा किया हुआ नामस्मरण ही अच्छा और वचन दुष्प्रणिधान का अवरोधक है, और कभी २ मनःसुप्रणिधान का भी कारण हो जाता है, अतएव मूर्ति-पूजा से नामस्मरण अवश्य उत्तम है।

यदि यह कहा जाय कि—'हमारी यह द्रव्य-पूजा काय दुष्प्रणिधान होते हुए भी मन.सुप्रणिधान (भाव पूजा) की कारण है' तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि—मन.सुप्रणिधान

में शरीर दुष्प्रणिधान की आवश्यक्ता नहीं रहती, द्रव्य-पूजा से भाव-पूजा बिलकुल पृथक् है, भाव-पूजा में किसी जीव को मारना तो दूर रहा सताने की भी आवश्यकता नहीं रहती, न किसी अन्य बाह्य वस्तुओं की ही आवश्यकता रहती है। भाव-पूजा तो एकान्त मन, वचन, और शरीर द्वारा ही की जाती है। अतएव द्रव्य पूजा को भाव-पूजा का कारण कहना असत्य है।

स्वयं हरिभद्रसूरि आवश्यक में लिखते हैं कि--

'भावस्तव में द्रव्यस्तव की आवश्यकता नहीं।

और जो गाय का उदाहरण दिया गया है वह भी उल्टा प्रश्नकार के ही विरुद्ध जाता है, क्योंकि--

जिस प्रकार गाय के नाम रटन मात्र से दूध नहीं मिल सकता, उसी प्रकार पत्थर, मिट्टी, या कागज़ पर बनी हुई गाय से भी दूध प्राप्त नहीं हो सकता। यदि हमारे मूर्ति-पूजक बन्धु इस उदाहरण से भी शिक्षा प्राप्त करना चाहें तो सहज ही में मूर्ति पूजा का यह फन्दा उनसे दूर हो सकता है। किन्तु ये भाई ऐसे सीधे नहीं, जो मान जाय, ये तो नाम से दूध मिलना नहीं मानेंगे, पर गाय की मूर्ति से दूध प्राप्त करने की तरह मूर्ति-पूजा तो करेंगे ही।

साक्षात् भाव निक्षेप रूप प्रभु की आराधना साक्षात् गाय के समान फलप्रद होती है, किन्तु मूर्ति से इच्छित लाभ प्राप्त करने की आशा रखना तो पत्थर की गाय से दूध प्राप्त करने के बराबर ही हास्यास्पद है। अतएव बेसमझी को छोड़ कर सत्य मार्ग को ग्रहण करना चाहिये।



१४— भौगोलिक नक्शे

प्रश्न—जिस प्रकार द्वीप, समुद्र, पृथ्वी आदि का ज्ञान नक्शे द्वारा सहज ही में होता है, भूगोल के चित्र पर से ग्राम, नगर, देश, नदी समुद्र रेल्वे आदि का जानना सुगम होता है, उसी प्रकार मूर्ति से भी साक्षात् का ज्ञान होता है ऐसी स्पष्ट बात को भी आप क्यों नहीं मानते?

उत्तर—मात्र मूर्ति ही साक्षात् का ज्ञान कराने वाली है यह बात असत्य है। क्योंकि अनपढ मनुष्य तो नक्शे को सामान्य रद्दी कागज़ से अधिक नहीं जान सकता, किसी अनपढ या बालक के सामने कोई उच्च धार्मिक पुस्तक रख दी जाय तो वह मात्र पुड़िया बान्धने के अन्य किसी भी काम में नहीं ले सकता। *अनसमझ लोगों की वह बात सभी* जानते हैं कि जब भारत में रेलगाड़ी का चलना प्रारम्भ हुआ तब वे लोग उसे वाहन नहीं समझ कर देवी जानते थे। साक्षात् वीर प्रभु को देखकर अनेक युवतिया उनसे

रतिदान की प्रार्थना करती थी, बच्चे डरके मारे रो रो कर भागते थे, अनार्य लोग प्रभू को चोर समझ कर ताड़ना करते थे, जब मूर्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है, तो साक्षात् को देखने पर ज्ञान के बदले अज्ञान विपरीत ज्ञान क्यों हुआ? साक्षात् धर्म के नायक और परम योगीराज प्रभु महावीर को देख लेने पर भी वैराग्य के बदले राग, एवं द्वेश भाव क्यों जागृत (पैदा) हुए?

यह ठीक है कि जिस प्रकार पढे लिखे मनुष्य नक्शा देखकर इच्छित स्थान अथवा रेल्वे लाईन सम्बन्धी जानकारी कर लेते हैं। यानी नक्शा आदि पुस्तक की तरह ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो सकते हैं। किन्तु यदि कोई विद्वान नक्शा देख कर इच्छित स्थान पर पहुंचने के लिये उसी नक्शे पर दौड़ धूप मचावे, चित्रमय सरोवर में जल विहार करने की इच्छा से कूद पड़े, चित्रमय गाय से दूध प्राप्त करने की कोशिश करे, तब तो मूर्ति भी साक्षात् की तरह पूजनीय एवं वंदनीय हो सकती है, पर इस प्रकार की मूर्खता कोई भी समझदार नहीं करता तब मूर्ति ही असल की बुद्धि से कैसे पूज्य हो सकती है?

जिस प्रकार नक्शे को नक्शा मानकर उसकी सीमा देखने मात्र तक ही है उसी प्रकार मूर्ति भी देखने मात्र तक ही (अनावश्यक होते हुए भी) सीमित रखिये, तब तो आप इस हास्यास्पद प्रवृत्ति से बहुत कुछ बच सकते हैं। इसी तरह यह आप ही का दिया हुआ उदाहरण आपकी मूर्ति पूजा में बाधक सिद्ध हुआ। अतएव आपको जरा सहल हृदय से विचार कर सत्य मार्ग को ग्रहण करना चाहिये।

१५—स्थापना सत्य



प्रश्न—शास्त्र में स्थापना सत्य कहा गया है उसे आप मानते हैं या नहीं ?

उत्तर—हां स्थापना सत्य को हम अवश्य मानते हैं उसका सच्चा आशय यही है कि स्थापना को स्थापना मूर्ति को मूर्ति चित्र को चित्र मानना। इसके अनुसार हम मूर्ति को मूर्ति मानते हैं, किन्तु स्थापना सत्य का जो आप समझाना चाहते हैं, कि स्थापना मूर्ति ही को साक्षात् मानकर वन्दन पूजन आदि किये जाय यह अर्थ नहीं होता। इस प्रकार का मानने वाला सत्य से परे है, आपको यह प्रमाण तो वहां देना चाहिये जो मूर्ति को मूर्ति ही नहीं मानता हो। इस तरह यहां आपकी उक्त दलील भी मनोरथ सिद्ध करने में असफल ही रही।



१३—'नामस्मरण और मूर्ति-पूजा'



प्रश्न—जिस प्रकार आप नामस्मरण करते हैं उसी प्रकार हम मूर्ति-पूजा करते हैं, यदि मूर्ति-पूजा से लाभ नहीं तो नामस्मरण से क्या लाभ? जैसे "मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर" पृ० ५७ पर लिखा है कि—

"जेम कोई पुरुष हे गाय दूध दे, एम केवल मुखे थी उच्चारण करे तो तेने दूध मले के नहीं? तमे कहेशो के नहीं, त्यारे परमेश्वर ना नाम थी के जाप थी पण कांई कार्य सिद्ध नहीं थाय तो पछी तमारे परमात्मा नुं नाम पण न लेवुं जोइए।

इसका क्या समाधान है?

उत्तर—यह तो प्रश्नकर्त्ता की कुतर्क है और ऐसी ही कुतर्क श्रीमान् लब्धिसूरिजी ने भी की थी जो कि "जैन सत्य प्रकाश में प्रकट हो चुकी है, इन महानुभावों को यह भी मालूम नहीं कि—'कोई भी समझदार मनुष्य खाली तोता

रटन रूप नाम स्मरण को उच्च फल प्रद नहीं मानता, भाव युक्त स्मरण ही उत्तम कोटि का फ़लदाता है। किन्तु भाव युक्त भजन के आगे तोते की तरह किया हुवा नामस्मरण किंचित् मात्र होते हुए भी मूर्ति पूजा से तो अच्छा ही है, क्योंकि केवल वाणी द्वारा किया हुआ नामस्मरण भी 'वाणी-सुप्रणिधान' तो अवश्य है, और 'वाणीसुप्रणिधान' किसी २ समय 'मन' सुप्रणिधान' का कारण बन जाता है, और मूर्ति पूजा तो प्रत्यक्ष में 'कायदुष्प्रणिधान' प्रत्यक्ष है, साथ ही मन दुष्प्रणिधान की कारण बन सकती है, क्योंकि—पूजा में आये हुए पुष्पादि घ्राणेन्द्रिय के विषय का पोषण करने वाले हैं, मनोहर सजाई, आकर्षक दीपराशी और नृत्यादि नेत्रेन्द्रिय को पोषण दे ही देते हैं, वाजिन्त्र और सुरीले तान टप्पे कर्णेन्द्रिय को लुभाने में पर्याप्त है, स्नान शरीर विकार बढाने का प्रथम शृंगार ही है, इस प्रकार जिस मूर्ति पूजा में पांचों इन्द्रियों के विषय का पोषण सुलभ है वहां मनदुष्प्रणिधान हो तो आश्चर्य ही क्या है? वहा हिंसा भी प्रत्यक्ष है, अतएव मूर्ति पूजा शरीर और मन दोनों को बुरे मार्ग मे लगाने वाली है, कर्म-बंधन में विशेष जकड़ने वाली है, इससे तो केवल वाणी द्वारा किया हुआ नामस्मरण ही अच्छा और वचन दुष्प्रणिधान का अवरोधक है, और कभी २ मन.सुप्रणिधान का भी कारण हो जाता है, अतएव मूर्ति-पूजा से नामस्मरण अवश्य उत्तम है।

यदि यह कहा जाय कि—'हमारी यह द्रव्य पूजा काय दुष्प्रणिधान होते हुए भी मन.सुप्रणिधान (भाव पूजा) की कारण है' तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि—मन सुप्रणिधान

में शरीर दुष्प्रणिधान की आवश्यक्ता नहीं रहती, द्रव्य-पूजा से भाव-पूजा बिलकुल पृथक् है, भाव-पूजा में किसी जीव को मारना तो दूर रहा सताने की भी आवश्यकता नहीं रहती, न किसी अन्य बाह्य वस्तुओं की ही आवश्यकता रहती है। भाव-पूजा तो एकान्त मन, वचन, और शरीर द्वारा ही की जाती है। अतएव द्रव्य पूजा को भाव-पूजा का कारण कहना असत्य है।

स्वयं हरिभद्रसूरि आवश्यक में लिखते हैं कि—

'भावस्तव में द्रव्यस्तव की आवश्यकता नहीं।

और जो गाय का उदाहरण दिया गया है वह भी उल्टा प्रश्नकार के ही विरुद्ध जाता है, क्योंकि—

जिस प्रकार गाय के नाम रटन मात्र से दूध नहीं मिल सकता, उसी प्रकार पत्थर, मिट्टी, या कागज़ पर बनी हुई गाय से भी दूध प्राप्त नहीं हो सकता। यदि हमारे मूर्ति-पूजक बन्धु इस उदाहरण से भी शिक्षा प्राप्त करना चाहें तो सहज ही में मूर्ति पूजा का यह फन्दा उनसे दूर हो सकता है। किन्तु ये भाई ऐसे सीधे नहीं, जो मान जाय, ये तो नाम से दूध मिलना नहीं मानेंगे, पर गाय की मूर्ति से दूध प्राप्त करने की तरह मूर्ति-पूजा तो करेंगे ही।

साक्षात् भाव निक्षेप रूप प्रभु की आराधना साक्षात् गाय के समान फलप्रद होती है, किन्तु मूर्ति से इच्छित लाभ प्राप्त करने की आशा रखना तो पत्थर की गाय से दूध प्राप्त करने के बराबर ही हास्यास्पद है। अतएव बेसमझी को छोड़ कर सत्य मार्ग को ग्रहण करना चाहिये।



१४— भौगोलिक नक्शे

प्रश्न—जिस प्रकार द्वीप, समुद्र, पृथ्वी आदि का ज्ञान नक्शे द्वारा सहज ही में होता है, भूगोल के चित्र पर से ग्राम, नगर, देश, नदी समुद्र रेल्वे आदि का जानना सुगम होता है, उसी प्रकार मूर्ति से भी साक्षात् का ज्ञान होता है ऐसी स्पष्ट बात को भी आप क्यों नहीं मानते?

उत्तर—मात्र मूर्ति ही साक्षात् का ज्ञान कराने वाली है यह बात असत्य है। क्योंकि अनपढ मनुष्य तो नक्शे को सामान्य रद्दी कागज़ से अधिक नहीं जान सकता, किसी अनपढ़ या बालक के सामने कोई उच्च धार्मिक पुस्तक रख दी जाय तो वह मात्र पुड़िया बान्धने के अन्य किसी भी काम में नहीं ले सकता। अनसमझ लोगों की वह बात सभी जानते हैं कि जब भारत में रेलगाड़ी का चलना प्रारम्भ हुआ तब वे लोग उसे वाहन नहीं समझ कर देवी जानते थे। साक्षात् वीर प्रभु को देखकर अनेक युवतियां उनसे

रतिदान की प्रार्थना करती थी, बच्चे डरके मारे रो रो कर भागते थे, अनार्य लोग प्रभू को चोर समझ कर ताड़ना करते थे, जब मूर्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है, तो साक्षात् को देखने पर ज्ञान के बदले अज्ञान विपरीत ज्ञान क्यों हुआ? साक्षात् धर्म के नायक और परम योगीराज प्रभु महावीर को देख लेने पर भी वैराग्य के बदले राग, एवं द्वेश भाव क्यों जागृत (पैदा) हुए?

यह ठीक है कि जिस प्रकार पढे लिखे मनुष्य नक्शा देखकर इच्छित स्थान अथवा रेल्वे लाईन सम्बन्धी जानकारी कर लेते हैं। यानी नक्शा आदि पुस्तक की तरह ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो सकते हैं। किन्तु यदि कोई विद्वान नक्शा देख कर इच्छित स्थान पर पहुंचने के लिये उसी नक्शे पर दौड़ धूप मचावे, चित्रमय सरोवर में जल विहार करने की इच्छा से कूद पड़े, चित्रमय गाय से दूध प्राप्त करने की कोशिश करे, तब तो मूर्ति भी साक्षात् की तरह पूजनीय एवं वंदनीय हो सकती है, पर इस प्रकार की मूर्खता कोई भी समझदार नहीं करता तब मूर्ति ही असल की बुद्धि से कैसे पूज्य हो सकती है?

जिस प्रकार नक्शे को नक्शा मानकर उसकी सीमा देखने मात्र तक ही है, उसी प्रकार मूर्ति भी देखने मात्र तक ही (अनावश्यक होते हुए भी) सीमित रखिये, तब तो आप इस हास्यास्पद प्रवृत्ति से बहुत कुछ बच सकते हैं। इसी तरह यह आप ही का दिया हुआ उदाहरण आपकी मूर्ति पूजा में बाधक सिद्ध हुआ। अतएव आपको जरा सहल हृदय से विचार कर सत्य मार्ग को ग्रहण करना चाहिये।

१५—स्थापना सत्य

प्रश्न—शास्त्र में स्थापना सत्य कहा गया है उसे आप मानते हैं या नहीं ?

उत्तर—हा स्थापना सत्य को हम अवश्य मानते हैं उसका सच्चा आशय यही है कि स्थापना को स्थापना मूर्ति को मूर्ति चित्र को चित्र मानना। इसके अनुसार हम मूर्ति को मूर्ति मानते हैं, किन्तु स्थापना सत्य का जो आप समझाना चाहते हैं, कि स्थापना मूर्ति ही को साक्षात् मानकर वन्दन पूजन आदि किये जाय यह अर्थ नहीं होता। इस प्रकार का मानने वाला सत्य से परे है, आपको यह प्रमाण तो वहा देना चाहिये जो मूर्ति को मूर्ति ही नहीं मानता हो। इस तरह यहा आपकी उक्त दलील भी मनोरथ सिद्ध करने में असफल ही रही।



१६—नाम निक्षेप वन्दनीय क्यों ?

प्रश्न—भाव निक्षेप को ही वन्दनीय मानकर अन्य निक्षेप को अवन्दनीय कहने वाले नाम स्मरण या नाम निक्षेप को वंदनीय सिद्ध करते हैं या नहीं ?

उत्तर—यह प्रश्न भी अज्ञानता से ओत प्रोत है, हम नाम निक्षेप को वन्दनीय मानते ही नहीं, यदि हम नाम निक्षेप को ही वन्दनीय मानते तो ऋषभ, नेमि, पार्श्व, महावीर आदि नाम वाले मनुष्यों को जो कि तीर्थंकरों के नाम निक्षेप में हैं उनको वन्दना नमस्कार आदि करते, किन्तु गुणशून्य नाम निक्षेप को हम या कोई भी बुद्धिशाली मनुष्य या स्वयं मूर्ति पूजक ही वन्दनीय, पूजनीय नहीं मानते, ऐसी सूरत में गुण-शून्य स्थापना निक्षेप को वन्दनीय पूजनीय मानने वाले किस प्रकार बुद्धिमान कहे जा सकते हैं।

हम जो नाम लेकर वन्दना नमस्कार रूप क्रिया करते हैं, वह अनन्तज्ञानी कर्म वृन्द के छेदक जगदुपकारी, शुक्लध्यान में मग्न ऐसे तीर्थंकर प्रभु की तथा उनके गुणों की जब हम ऐसे विश्वपूज्य प्रभु का ध्यान करते हैं तब हमारी

कल्पनानुसार प्रभु हमारे नेत्रों के सम्मुख दिखाई देते हैं, हम अतिशय गुणयुक्त प्रभु के चरणों में अपने को समर्पण कर देते हैं, भक्ति से हमारा मस्तक प्रभु चरणों में झुक जाता है और यह सभी क्रिया भाव निक्षेप में है, ऐसे भाव युक्त नाम स्मरण को नाम निक्षेप में गिना और इस ओट से मूर्ति पूजा को उपादेय कहना यह स्पष्ट अज्ञता है।



१७—'शक्कर के खिलौने'

प्रश्न—शक्कर के बने हुए खिलौने—हाथी, घोड़े, गाय, भेंस, ऊंट, कबूतर आदि को आप खाते हैं या नहीं? यदि उनमें स्थापना होने से नहीं खाते हो तो स्थापना निक्षेप वन्दनीय सिद्ध हुआ, या नहीं?

उत्तर—हम गाय भेंस आदि की आकृति के बने हुए शक्कर के खिलौने नहीं खाते, क्योंकि वह स्थापना निक्षेप है, स्थापना निक्षेप को मानने वाला, उस स्थापना को न तो तोड़ता है और न स्थापना की सीमा से अधिक महत्व ही देता है। यदि ऐसे स्थापना निक्षेप युक्त खिलौने को कोई खावे या तोड़े तो वह स्थापना निक्षेप का भङ्गकर्त्ता ठहरता है, और जो कोई उस स्थापना को सीमातीत महत्त्व देकर, उनके सामने खिलाने पिलाने के उद्देश्य से घास, दान, पानी, खावे और गाय, भेंसादि, से दूध प्राप्त करने का प्रयत्न करे, हाथी घोड़े पर सवारी करने लगे तो वह सर्व साधारण के सामने तीन वर्ष के बालक से अधिक सुज्ञ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार मूर्ति को साक्षात् मानकर जो वन्दना, पूजा, नम-

स्कारादि करते हैं वे भी तीन वर्ष के लल्लु के छोटे भाई के समान ही बुद्धिमान (?) है।

हमारे सामने तो ऐसी दलीलें व्यर्थ हैं, यह युक्ति तो वहां देनी चाहिए कि जो स्थापना निक्षेप को ही नहीं मानकर ऐसे खिलौने को भी नहीं खाते हो, किन्तु आश्चर्य तो तब होता है कि—जब यह दलील मू० पू० आचार्य विजयलब्धि-सूरिजी जैसे विद्वान् के कर कमलों से लिखी जाकर प्रकाश में आई हुई देखते हैं।

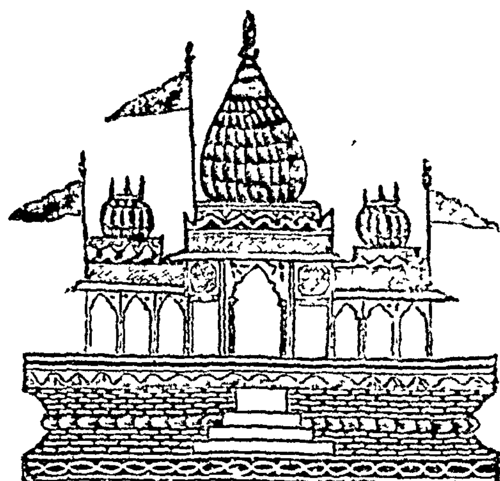
नकशे को नकशा, चित्र को चित्र मानना तथा आवश्य-कता पर देखने मात्र तक ही उसकी सीमा रखना यह स्था-पना सत्य मानने की शुद्ध श्रद्धा है, नक्शे चित्र आदि को केवल कागज का टुकड़ा या पाषाण मय मूर्ति को पत्थर ही कहना ठीक नहीं, इसी प्रकार नक्शे चित्र या मूर्ति के साथ साक्षात् की तरह वर्ताव कर लड़कपन दिखाना भी उचित नहीं।

जम्बुद्वीप के नक्शे को और उसमें रहे हुए मेरू पर्वत को केवल कागज का टुकड़ा भी नहीं कहना, और न उसको जम्बुद्वीप या सुदर्शन पर्वत समझकर दौड़ मचाना, चढ़ाई करना। इसके विपरीत चित्र आदि के साथ साक्षात् का सा व्यवहार कर अपनी अज्ञता जाहिर करना सुज्ञों का कार्य नहीं है।

हम मूर्ति पूजक बंधुओं से ही पूछते हैं कि—जिस प्रकार आप मूर्ति को साक्षात् रूप समझ के वन्दन पूजन करते हैं, उसी प्रकार क्या, कागज या मिट्टी की बनी हुई रोटी तथा शिल्पकारों द्वारा बनी हुई पाषाण की बादाम, खारक आदि

वस्तुएं खा लेंगे ? नहीं, यह तो नहीं करेंगे। फिर तो आपकी मूर्ति पूजकता अधूरी ही रह गई ?

प्रिय बंधुओं ? सोचो, और हठ को छोड़कर सत्य स्वीकार करो इसीमें सच्चा हित है। अन्यथा पश्चात्ताप करना पड़ेगा।



१८—पति का चित्र

प्रश्न—जिसका भाव वन्दनीय है उसकी स्थापना भी वन्दनीय है, जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने पति की अनुपस्थिति में पति के चित्र को देख कर आनन्द मानती है, पति मिलन समान सुखानुभव करती है, उसी प्रकार प्रभु मूर्ति भी हृदय को आनन्दित कर देती है, अतएव वन्दनीय है, इसमें आपका क्या समाधान है ?

उत्तर—यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि—चित्र की मर्यादा देखने मात्र तक ही है इससे अधिक नहीं। इसी प्रकार पति मूर्ति भी देखने मात्र तक ही कार्य साधक है, इससे अधिक प्रेमालाप, या सहवास आदि सुख जो साक्षात् से मिल सकता है मूर्ति से नहीं। पतिव्रता स्त्री को पति की अनुपस्थिति में यदि चित्र से ही प्रेमालाप आदि करते देखते हो या चित्र से विधवापन सधवापन का अनुभव करती हों तब तो मूर्ति पूजा भी माननीय हो सकती है, किन्तु ऐसा कहीं भी नहीं होता फिर मूर्ति ही साक्षात् की तरह पूजनीय कैसे हो सकती है ? अतएव जिसका भाव पूज्य उसकी स्था

में ऐसे कितने महापुरुष हैं कि—जिन्होंने मोह को जीत लिया हो ?

आप एक निर्विकारी छोटे बच्चे को भी देखेंगे तो वह भी अपनी प्रिय वस्तु पर मोह रक्खेगा। अप्रिय से दूर रहेगा। और वही अबोध बालक युवावस्था प्राप्त होते ही विना किसी बाह्य शिक्षा के ही अपने मोहोदय के कारण काम भोजन बन जायगा। हमने पहले ही प्रश्न के उत्तर में यह बता दिया था कि—वीतरागी विभूतियां संसार में अंगुली पर गिनी जाय इतनी भी मुश्किल से मिलेगी किन्तु इस कामदेव के भक्त तो सभी जगह देव मनुष्य तिर्यंच और नर्क गति में असंख्य ही नहीं अनन्त होने से इस विश्वदेव का शासन अविच्छिन्न और सर्वत्र है। अतएव स्त्री चित्र से काम जागृत होना सहज और सरल है, यह तो चित्र देखने के पूर्व भी हर समय मानव मानस में व्यक्त या अव्यक्त रूप से रहा ही हुआ है चित्र दर्शन से अव्यक्त रहा हुआ वह काम राख में दबी हुई अग्नि की तरह उदय भाव में आ जाता है। इसको उदय भाव में लाने के लिये तो इशारा मात्र ही पर्याप्त है, किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु वैराग्य प्राप्त करने के लिए तो भारी प्रयत्न करने पर भी असर होना कठिन है। उदाहरण के लिए सुनियेः—

(१) एक समर्थ विद्वान, प्रखरवक्ता, त्यागी मुनिराज अपनी ओजस्वी और असरकारक वाणी द्वारा वैराग्योत्पादक उपदेश देकर श्रोताओं के हृदय में वैराग्य भावनाओं का संचार कर रहे हैं, श्रोता भी उपदेश के अचूक प्रभाव से वैराग्य रंग में रंगकर अपना ध्यान केवल वक्ता महोदय की ओर ही लगाए

बैठे हैं, किन्तु उसी समय कोई सुन्दरी युवति वस्त्राभूषण से सज्ज हो नूपुर का झङ्कार करती हुई उस व्याख्यान सभा के समीप होकर निकल जाय तब आप ही बताइये, कि उस युवती का उधर निकलना मात्र ही उन त्यागी महात्मा के घंटे दो घन्टे तक के किये परिश्रम पर तत्काल पानी फिरादेगा या नहीं ? अधिक नहीं तो कुछ क्षण के लिए तो सुन्दरी श्रोतागण का ध्यान धारा प्रवाह से चलती हुई वैराग्यमय व्याख्यान धारा से हटा कर अपनी ओर खींच ही लेगी, और इस तरह श्रोताओं के हृदय से बढ़ती हुई वैराग्य धारा को एक बार तो अवश्य खण्डित कर देगी। और धो डालेगी महात्मा के उपदेश जन्य पवित्र असर को। भले ही वह साक्षात् स्त्री नहीं होकर स्त्री वेष धारी बहुरूपिया ही क्यों न हो ?

(२) आप अपना ही उदाहरण लीजिए, आप मन्दिर में मूर्ति की पूजा कर रहे हैं, आप का मुह त्यागी की मूर्ति की ओर होकर प्रवेश द्वार की तरफ पीठ है। आप बाहर से आने वाले को नहीं देख सकते, किन्तु जब आपकी कर्णेन्द्रिय में दर्शनार्थ आई हुई स्त्री (भले ही वह सुन्दरी और युवती न हो) के चरणाभूषण की आवाज सुनाई देगी, तब आप शीघ्र ही अपने मन के साथ शरीर को भी वीतराग मूर्ति से मोड़कर एकबार आगत स्त्री की तरफ दृष्टिपात तो अवश्य करेंगे। उस समय आपके हृदय और शरीर को अपनी ओर रोक रखने में वह मूर्ति एक दम असफल सिद्ध होगी। कहिये, मोहराज की विजय में फिर भी कुछ सन्देह हो सकता है क्या ? और लीजिए —

(३) एक कमरे में तीर्थंकरों महात्माओं, देश नेताओं के अनेक चित्रों के साथ एक शृङ्गार युक्त युवति का चित्र भी एक

कौने में लगा हुआ है, वहां बालकों और युवकों को ही नहीं, किन्तु दश, बीस बृद्ध पुरुषों को चित्रावलोकन करने दिया जाय आप देखेंगे कि—उन दर्शकों में से किसी एक की भी दृष्टि जब उस कौने में दबी हुई युवती के चित्र पर पड़ेगी, तब सहसा सभी दर्शक महात्माओं के चित्रों से मुंह मोड़ कर उसी सुन्दरी के चित्र की ओर ही बढ़ कर खूब रुचि से उस एक ही चित्र के सामने एक झुण्ड बन जायगा, इस प्रकार एक स्त्री के चित्र से आकर्षित होते हुए मनुष्यों को अनेकों महात्माओं के चित्र भी नहीं रोक सकेंगे, बताइये यह सब प्रभाव किसका? कामदेव मोहराज का ही न?

(४) आज कल कपड़े के थानों पर अनेक प्रकार के चित्र लगे रहते हैं, जिसमें अनेकों पर, महात्माजी, सरदार पटेल, पं० नेहरू, लोकमान्य तिलक, आदि देश नेताओं के चित्र रहते हैं, और अनेकों पर होते हैं युवती स्त्रियों के जिन में कोई लता से पुष्प तोड़ रही हैं तो कोई नौका विहार कर रही हैं। कोई सरोवर में स्नान कर रही है, तो कोई गालों पर हाथ लगाये अन्य मनस्क भाव से बैठी है, इत्यादि शृङ्गाररस से खूब सने हुए कई प्रकार के चित्र रहते हैं। आप अपने छोटे बच्चे को साथ लेकर कपड़ा खरीदने गये हों, तब व्यापारी आपके सामने अनेक प्रकार के वस्त्रों का ढेर लगा देगा। आप अपने पुत्र से वस्त्र पसन्द करवाइये, आपका चिरंजीव वस्त्र के गुण दोष को नहीं जानकर चित्र ही से आकर्षित होकर वस्त्र पसन्द करेगा, यदि अच्छे और टिकाऊ वस्त्र पर महात्माजी का चित्र होगा और आप उसे लेने का कहेंगे तो आपका सुपुत्र कहेगा कि—इस पर तो एक बाबा का फोटू है मुझे पसन्द नहीं, कोई अच्छा सुन्दर फोटू वाला वस्त्र लीजिए। भले ही आप वस्त्र के गुण दोष को

जानकर हलका वस्त्र नहीं लेंगे, किन्तु नौका विहारिणी के सुन्दर और आकर्षक चित्र को लेने की तो आप भी इच्छा करेंगे। आज प्रचार के विचार से वस्त्रों पर भद्दे और अश्लील चित्र भी आने लगे हैं और मैंने ऐसे कई मन चले मनुष्यों को देखे हैं जो मोहक चित्र के कारण ही एक दो आने अधिक देकर वस्त्र खरीद लेते थे।

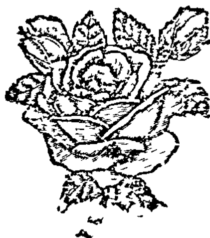
इस प्रकार संसार में किसी भी समय कामराग की अपेक्षा वैराग्य अधिक संख्या के संख्यक मनुष्यों में नहीं रहा भूतकाल के किसी भी युग में (काल) ऐसा समय नहीं आया कि-जब मोहराग से विराग अधिक प्राणियों में रहा हो। .

तीर्थंकर मूर्ति यदि नियमित रूप से सभी के हृदय में वैराग्योत्पादक ही हो तो-आये दिन समाचार पत्रों में ऐसे समाचार प्रकाशित नहीं होते कि—"अमुक ग्राम में अमुक मन्दिर की मूर्ति के आभूषण चोरी में चले गये, धातु की मूर्ति ही चोर ले उडे अमुक जगह मूर्ति खण्डित करडाली गई, आदि इन पर से सिद्ध हुआ कि वीतराग की मूर्ति से वैराग्य होना नियमित नहीं है। वैराग्य भाव तो दूर रहा पर उल्टा यह भी पाया जाता है कि चोरी और द्वेष जैसे दुष्ट भाव की भी मूर्ति उत्पादिका बन जाती है, क्योंकि-उसके बहुमूल्य आभूषण या स्वय धातु मूर्ति आदि ही चोर को चोरी करने को प्रेरणा करते हैं, बहुमूल्यत्व के लोभ को पैदा कर मूर्ति चोरी करवाती है, और द्वेषी आततायी के मनमें मूर्ति तोडने के भाव उत्पन्न कर देती है। इससे तो मूर्ति निन्दनीय भावोत्पादिका भी ठहरी।

अतएव सरल बुद्धि से यही समझो कि स्त्री चित्र से रागो-

त्पन्न होना स्वाभाविक है। किन्तु मूर्ति में वैराग्योत्पन्न होना नियमित नहीं। क्योंकि-वैराग्य भाव मोह के क्षयोपशम में उत्पन्न होता है, और क्षयोपशम भाव वाले महात्माओं के लिए तो संसार के सभी दृश्य पदार्थ वैराग्योत्पादक हो सकते हैं, जैसे समुद्रपालजी को चोर, नमिराजर्षि को कङ्कण, भरतेश्वर को मुद्रिका, आदि ऐसे क्षायोपशमिक भाव वालों के लिए मूर्ति की कोई खास आवश्यकता नहीं, और इन्हें स्त्री चित्र तो दूर रहा किन्तु साक्षात् देवांगना भी चलित नहीं कर सकती वे तो उससे भी वैराग्य ग्रहण कर लेते हैं और यह भी निश्चित नहीं कि-एक वस्तु से सभी के हृदय में एक ही प्रकार के भाव उत्पन्न होते हों, साक्षात् वीर प्रभु को ही लीजिए जो परम वीतरागी जितेन्द्रिय, त्यागी महात्मा थे, फिर भी उनको देखकर युवतियों को काम, बालकों को भय और अनार्यों को चोर समझने रूप द्वेष भाव उत्पन्न हुए और भव्य जनों के हृदय में त्याग और भक्ति भाव का संचार होता था इससे यह सिद्ध हुआ कि--एक वस्तु सभी के हृदय में एक ही प्रकार के भाव उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। जब उदय भाव वाले को साक्षात् प्रभु ही वैराग्योत्पन्न नहीं करासके तो मूर्ति किस गिनती में है? दूसरा जिस प्रकार स्त्री चित्र देखने की मनाई है, वैसे प्रभु चित्र देखने की आज्ञा तो कहीं भी नहीं है। इस तरह सिद्ध हुआ कि स्त्री चित्र से काम जागृत होना जिस प्रकार सहज और सरल है, उस प्रकार प्रभु मूर्ति से वैराग्योत्पन्न होना सहज नहीं। किन्तु दलील के खातिर यदि आपका यह अनहोना और बाधक सिद्धान्त थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय तो भी कोई हानि नहीं है। क्योंकि--जिस प्रकार स्त्री चित्र देखने तक ही सीमित है, कोई भी पुरुष काम से प्रेरित होकर चित्र से

आलिंगन चुम्बनादि कुचेष्टा नहीं करता, उसी प्रकार प्रभु मूर्ति की रुचि वाले के लिये देखने तक ही हो सकती है, ऐसी हालत में मूर्ति की सीमातीत वन्दना पूजनादि रूप भक्ति क्यों की जाती है। ऐसा करना आप के उक्त उदाहरण से घट सकता है क्या ? अतएव यह उदाहरण भी मूर्ति पूजा में विफल ही रहा।



१०--हुण्डी से मूर्ति की साम्यता

प्रश्न—जब कोई धनी व्यापारी अपनी किसी विदेश स्थित दुकान के नाम किसी मनुष्य को हुण्डी लिखदे तब वह मनुष्य उस हुण्डी के जरिये लिखित रुपये प्राप्त कर सकता है, बताईये यह स्थापना निक्षेप का प्रभाव नहीं तो क्या है? हुण्डी में जितने रुपये देने के लिखे हैं वह रुपयों की स्थापना नहीं है क्या?

उत्तर—उक्त कथन स्थापना निक्षेप का उलंघन कर गया है, सर्व प्रथम यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्थापना निक्षेप साक्षात् की मूर्ति चित्र अथवा कोई पाषाण खण्ड आदि है, जिसमें साक्षात् की स्थापना की गई हो आपने इस प्रश्न में साक्षात् को ही स्थापना का रूप दे डाला है, क्योंकि हुण्डी स्वयं भाव निक्षेप में है, हुण्डी लेने वाले को उसमें लिखे हुए रुपये चुकाने पर ही प्राप्त हुई है, और हुण्डी जभी शिकरेगी कि उसका भाव (लिखने और शिकारने वाले साहूकार) सत्य हों।

यदि हुण्डी का भाव सत्य नहीं हो, लिखने शिकारने वाले अयोग्य हो तो उस हुण्डी का मूल्य ही क्या ? यों तो कोई राह चलता ले भग्गु भी लिख डालेगा, तो क्या वह भी सच्ची हुण्डी की तरह कार्य साधक हो सकेगी ?

हुण्डी की स्थापना हुण्डी की नकल याने प्रतिलिपि है, यदि कोई मनुष्य हुण्डी की नकल करके उससे रुपये प्राप्त करने जाय तो वह निराश होने के साथ ही विश्वासघातकता के अभियोग में कारागृह का अतिथि बन जाता है। अतएव यह सत्य समझिये कि हुण्डी स्वयं भाव निक्षेप में है किन्तु स्थापना में नहीं, स्थापना में तो हुण्डी की नकल है जो हुण्डी के बराबर कार्य साधक नहीं होती।



११--नोट मूर्ति नहीं है।

प्रश्न—नोट तो रुपयों की स्थापना ही है, उनसे जहां चाहे रुपये मिल सकते हैं, इसमें आपका क्या समाधान है?

उत्तर—जिस प्रकार हुण्डी भाव निक्षेप है वैसे ही नोट भी भाव निक्षेप में है, स्थापना में नहीं। प्रथम आपको यह याद रखना चाहिये कि सिक्के एक प्रकार के ही नहीं होते, सोने, चांदी, तांबा, कागज़ आदि कई प्रकार के होते हैं। जैसे रुपया, अठन्नी, चौअन्नी, दुअन्नी, इकन्नी यह चांदी या मिश्रित धातु के सिक्के हैं, वैसे ही तांबे के पैसे, सोने की गिन्नी, मोहर आदि कागज़ के नोट ये सब सिक्के हैं। प्रत्येक सिक्का अपने भाव निक्षेप में है, किसी की स्थापना नहीं। इनमें से किसी एक को भाव और दूसरे को उसकी स्थापना कहना अज्ञता है।

नोट की स्थापना निक्षेप नोट की प्रतिलिपि है वैसे ही रुपये का चित्र रुपये की स्थापना है। रुपये स्वर्ण मुद्रिका या नोट के अनेकों चित्र रखने वाला कोई दरिद्र, निर्धन धन-

वान नहीं वन सकता अधिक तो क्या एक पैसे की भी वस्तु नहीं पा सकता, किन्तु उलटा खोटे नोट चलाने या जाली सिक्का तैयार कर फैलाने के अपराध में दण्डित होता है। वस अव समझलो कि इसी तरह कल्पित स्थापना से भी इच्छित कार्य सफल नहीं हो सकते।



२२-परोक्ष वन्दन

प्रश्न—अन्यत्र विचरते हुए या स्वर्गस्थ गुरु की (उनकी अनुपस्थिति में) आकृति को लक्ष्य कर वन्दन करते हो, तब वह आकृति स्थापना—मूर्ति नहीं हुई क्या? और इस प्रकार आप मूर्ति पूजक नहीं हुए क्या?

उत्तर—इस प्रकार साक्षात् का स्मरण कर की हुई वन्दना, स्तुति यह भाव निक्षेप में है, स्थापना में नहीं। क्योंकि जब अनुपस्थित गुरु का स्मरण किया जाता है तब हमारे नेत्रों के सामने हमें गुरुदेव साक्षात् भाव निक्षेप युक्त दिखाई देते हैं। यदि हम व्याख्यान देते हुए की कल्पना करें तो हमारे सामने वही सौम्य और शान्त महात्मा की आकृति उपदेश देते हुए दिखाई देती है, हम अपने को भूलकर भूत कालीन दृश्य का अनुभव करने लगते हैं, इस प्रकार यह परोक्ष वन्दन भाव निक्षेप में है, स्थापना में नहीं। स्थापना में तो तब हो कि—जब हम उनकी मूर्ति चित्र या अन्य किसी वस्तु में स्थापना करके वन्दनादि करते हों तब तो आप हमें मूर्तिपूजक कह सकते हैं. किन्तु जब हम इस प्रकार की मूर्खता से दूर हैं तब आपका स्थापना वन्दन किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव आपको अपनी श्रद्धा शुद्ध करनी चाहिए।

२३-वन्दन आवश्यक और स्थापना

प्रश्न–षडावश्यक में तीसरा वन्दन नामका आवश्यक है, यह वन्दनावश्यक गुरु की अनुपस्थिति में विना "स्थापना" के किसके सन्मुख करते हो ? वहां तो स्थापना रखना ही चाहिए अन्यथा यह आवश्यक अपूर्ण ही रह जाता है। आप के पास इसका क्या उत्तर है ?

उत्तर–तीसरा आवश्यक गुरु वन्दन–गुरु का विनय और उनके प्रति विपरीताचरण रूप लगे हुए दोषों की आलोचना करने का है, यह जहां तक गुरु उपस्थित रहते हैं वहां तक उनके सन्मुख उनकी सेवा में किया जाता है, किन्तु अनुपस्थिति में गुरु का ध्यान कर उनके चरणों को लक्ष्य कर यह क्रिया की जाती है इसमें स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

तीसरे आवश्यक में बताई हुई ये बातें क्या स्थापना से पूछी जाती है कि–अहो क्षमा श्रमण ! आपके शरीर को मेरे वन्दन करने–चरण स्पर्शने–से कष्ट तो नहीं हुआ ? मुझे धार्मिक क्रिया करने की आज्ञा दीजिए, अहोपूज्य ! क्षमा करिये, आपकी सयम यात्रा और इन्द्रिय मन वाधारहित है ? आदि बातें क्या

स्थापना के साथ की जाती है। कदापि नहीं यह क्रिया साक्षात् के साथ या उनकी अनुपस्थिति में उन्हीं के चरणों को लक्ष्य कर की जासकती है, और यह भावनिक्षेप में ही है। ऐसे परोक्ष वन्दन का इतिहास सूत्रों में भी मिलता है जहां स्थापना का नाम मात्र भी उल्लेख नहीं है, देखिये।

(१) शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से प्रभु को देखकर सिंहासन छोड़ा और ७-८ कदम उस दिशा में बढ़कर परोक्ष वन्दन किया किन्तु वहां भी स्थापना का उल्लेख नहीं है।

(२) आनन्दादि श्रावकों ने पौषध शाला में प्रतिक्रमण स्वाध्याय ध्यान आदि क्रियाएं की किन्तु वहां भी स्थापना को स्थान नहीं मिला।

(३) अनेक साधु साध्वी आदि के चरित्र वर्णन में कहीं भी उक्त स्थापना का नाम मात्र भी कथन नहीं है।

(४) सुदर्शन, कोणिक, नन्दन मनिहार (मेंढक के भव में) ने भगवान को लक्ष्य कर परोक्ष वन्दन किया है।

इसके सिवाय आत्मारामजी ने जैन तत्वादर्श पृष्ठ ३०१ में लिखा है कि—

"जेकर प्रतिमा न मिले तो पूर्व दिशा की तरफ मुख करके वर्तमान तीर्थंकरों का चैत्य वन्दन करें।"

यहां भी मूर्ति की अनुपस्थिति में स्थापना की आवश्यकता नहीं बताई।

इत्यादि पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरु आदि की अनुपस्थिति में स्थापना रखने की आवश्यकता नहीं। यह नूतन पद्धति भी मूर्ति-पूजा का ही परिणाम है, जो कि-अनावश्यक अर्थात् व्यर्थ है।

१४-द्रव्य-निक्षेप



प्रश्न—द्रव्य निक्षेप को तो आप अवन्दनीय नहीं कह सकते क्योंकि—"तीर्थंकरके जन्म समय शक्रेन्द्रादि जन्मोत्सव करते हैं, और निर्वाण पश्चात् शव का अग्नि सस्कार करते हैं, उस समय तीर्थंकर द्रव्य निक्षेप में होते हैं और देवेन्द्र उनको वन्दन करते हैं ऐसी हालत में द्रव्य निक्षेप अवन्दनीय कैसे कहा जाता है ?

उत्तर—स्थापना की तरह द्रव्य निक्षेप भी वंदनीय नहीं है, क्योंकि वह भाव शून्य है, जन्मोत्सव क्रिया शक्रेन्द्रादि अपने जीताचारानुसार करते हैं और इसी प्रकार अग्नि सस्कार भी जीताचार के साथ साथ यह क्रिया अत्यत आवश्यक है, इस जीताचार के कारण ही तो तीर्थंकर के मुह की अमुक ओर की अमुक दाढ़ा अमुक इन्द्र ही लेता है, यह सब क्रिया पद के अनुसार जीताचार की है। फिर उस समय की जाने वाली स्नान आदि क्रियाओं को धार्मिक क्रिया कैसे कह सकते हैं ? यदि इन क्रियाओं को धार्मिक क्रिया मानी जाय तो फिर भाव-निक्षेप (साक्षात्) के साथ ये क्रियाए क्यों नहीं की जाती है ?

देखिये द्रव्य निक्षेप को वन्दनीय मानने में निम्न बाधक कारण उपस्थित होते हैं—

(अ) गृहस्थावस्था में रहे हुए तीर्थंकर प्रभु अपने भोगावली कर्मानुसार गृहस्थ सम्बन्धी सभी कार्य जैसे स्नान, मर्दन, विलेपन, विवाह, मैथुन आदि करते हैं, उस समय वे गुणपूजकों के लिए भाव निक्षेप की तरह वन्दनीय कैसे हो सकते हैं ?

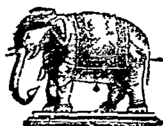
(आ) जो वर्तमान में वैरागी होकर भविष्य में साधु होने वाला है, जिसके लिए दीक्षा का मुहूर्त निश्चित हो चुका है दो चार घड़ी मे ही महाव्रती हो जायगा विश्वास पात्र भी है वह द्रव्य निक्षेप से साधु अवश्य है, किन्तु दीक्षा लेने के पूर्व भाव निक्षेप वाले साधु की तरह उसके लिये भी वन्दन नमस्कारादि क्रिया क्यों नहीं की जाती ? वाहन पर चढ़ाकर क्यों फिराया जाता है। भोजन का निमंत्रण क्यों दिया जाता है। कारण यही कि वह अभी भाव निक्षेप से साधु नहीं है। गृहस्थ है।

(इ) द्रव्यलिंगी आचार भ्रष्ट ऐसे साधु का संघ वहिष्कार क्यों कर देता है ? क्या वह द्रव्य निक्षेप में नहीं है। अवश्य है, किन्तु भाव शून्य है अतएव आदरणीय नहीं होता।

(ई) जो वर्तमान में युवराज है भविष्य में राजा या सम्राट होंगे, वे सम्राट की तरह राजाज्ञा पर हस्ताक्षर क्यों नहीं करते। राज्य के अन्य जागीरदार, अधिकारी वर्ग आदि राजा या सम्राट तरीके उनको भेट नज़र आदि क्यों नहीं करते। वर्तमान युवराज को अधिकार सम्पन्न राजा क्यों नहीं माना जाता। तो यही उत्तर होगा कि उसमें भावनिक्षेप नहीं है। हाँ युवराज का भावनिक्षेप उसमें है, इससे इस पद के योग्य मान पा सकेगा किन्तु अधिक नहीं।

(उ) भूतपूर्व एबीसीनियन सम्राट गसतफारी और अफगान सम्राट अमानुल्लाखान पदच्युत होने से द्रव्य निक्षेप में सम्राट अवश्य है। उक्त पदच्युत सम्राट वर्तमान में सम्राट तरीके कार्य साधक हो सकते हैं क्या? जो थोडे वर्ष पूर्व अपने साम्राज्य के अन्दर अपनी अखण्ड आज्ञा चलाते थे। जिनके संकेत मात्र में अनेकों के धन जन का हित अहित रहा हुआ था, धनवान को निर्धन, निर्धन को अमीर बन्दी को मुक्त मुक्त को बन्दी, कर देते थे, रोते को हसाना और हसते को रुलाना प्राय उनके अधिकार में था, लाखों करोड़ों के जो भाग्य विधाता और शासक कहाते थे किन्तु वे ही मनुष्य थोड़े ही दिन में (भावनिक्षेप के निकल जाने पर) केवल पूर्व स्मृति के भूत कालीन भाव निक्षेप के भाजन द्रव्य निक्षेप रह जाते हे तब उन्हें कोई पूछ ता ही नहीं, आज उनकी आज्ञा को साधारण मनुष्य भी चाहे तो ठुकरा सकता है, आज वे सम्राट नहीं किन्तु किसी सम्राट की प्रजा के समान रह गये ह। इसी प्रकार भूत-पूर्व इन्दौर तथा देवास के महाराजा भी वर्तमान में पदच्युत होने से मात्र द्रव्यनिक्षेप ही रह गये हैं। इस तरह अनुभव से भी द्रव्य निक्षेप वन्दीय पूजनीय नहीं हो सकता।

इतने प्रबल उदाहरणों से स्पष्ट सिद्ध होगया कि द्रव्य निक्षेप भी नाम और स्थापना की तरह अवन्दनीय है।



१५-'चतुर्विंशतिस्तव और द्रव्यनिक्षेप



प्रश्न—प्रथम तीर्थंकर के समय उनके शासनाश्रित चतुर्विध संघ प्रतिक्रमण के द्वितीय आवश्यक में 'चतुर्विंशतिस्तव' कहता था, उस समय अन्य तेवीस तीर्थंकर चारोंगति में भ्रमण करते थे, इससे सिद्ध हुआ कि—द्रव्य निक्षेप वंदनीय पूजनीय है, क्योंकि—प्रथम तीर्थंकर के समय भविष्य के २३ तीर्थंकर द्रव्य निक्षेप में थे। अब बताइये, इसमें तो आप भी सहमत होंगे?

उत्तर—यह तर्क भी निष्प्राण है। प्रथम जिनेश्वर का शासनाश्रित संघ आज की तरह चतुर्विंशतिस्तव कहता हो इसमें कोई प्रमाण नहीं है, खाली मनःकल्पित युक्ति लगाना योग्य नहीं है। प्रथम तीर्थंकर का संघ तो क्या, पर किसी भी तीर्थंकर के संघ में द्वितीयावश्यक में उतने ही तीर्थंकरों की स्तुति की जाती, जितने कि हो चुके हों। भविष्य में होने वाले तीर्थंकरों की स्तुति नहीं की जाती।

द्वितीयावश्यक का नाम भी सूत्र में प्रारंभ से चतुर्विंशतिस्तव नहीं है, यह नाम तो अन्तिम (२४वें) तीर्थंकर महा-

वीर प्रभु के शासन में ही होना प्रतीत होता है । अनुयोग द्वार सूत्र में षडावश्यक के नामों का पृथक २ उल्लेख किया गया है, वहा दूसरे आवश्यक का नाम चतुर्विंशतिस्तव नहीं बताकर 'उत्कीर्तन' (उक्किकत्तण) कहा है, अतएव चतुर्विंशतिस्तव नाम वर्तमान २४वें तीर्थंकर के शासन में होना सिद्ध होता है।

चतुर्विंशतिस्तव का पाठ भी भूतकाल में बीते हुए तीर्थंकरों की स्तुति को ही स्थान देता है, इसके किसी भी शब्द से भविष्यकाल में होने वाले की स्तुति सिद्ध नहीं होती भूतकालीन जिनेश्वरों की स्तुति रूप निम्न वाक्यों पर ध्यान दीजियेः—

"विहुय-रयमला, पहिणजरमरणा, चउविसंपि जिणवरा तित्थयरा मेपसियतु कित्तिय, वन्दिय, महिया, जे ए लोगस्म उत्तमा सिद्धा. आरुग्ग बोहिलाभं, समाहिवर-मुत्तमं-दितु, चन्देसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा, सागरवरगम्भीरा, 'सिद्धा' सिद्धि मम दिसंतु,

अर्थात्—चौबीसों ही जिनेश्वरों ने कर्म रज व्यायमल को दूर कर दिया है, जन्म मरण का क्षय किया है, अहो तीर्थंकरों मुझ पर प्रसन्न होवो। मैं आपकी स्तुति वन्दना और पूजा (भावद्वारा) करता हूं। आप लोक में उत्तम हैं। अहो सिद्धों! मुझे आरोग्य और बोधि लाभ प्रदान करो । तथा प्रधान ऐसी समाधि दो। आप चन्द्र से अधिक निर्मल और सूर्य से

अधिक प्रकाशमान हैं, सागर से भी अधिक गम्भीर हैं। अहो सिद्ध प्रभो ? मुझे सिद्धि प्रदान करो।"

यह स्तुति ही भाव प्रधान जीवन को बता रही है।

अब हमारे प्रेमी पाठक जरा शान्त चित्त से विचार करें और बतावें कि—चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) का कौनसा शब्द चतुर्गति में भ्रमण करने वाले द्रव्य तीर्थंकरों को वंदनादि करना बतलाता है ? यह पाठ तो स्पष्ट 'सिद्ध' विशेषण लगाकर यह सिद्ध कर रहा है कि—जिन तीर्थंकरों की स्तुति की जा रही है वे सिद्ध हो चुके हैं, जिन्होंने जन्म मरण का अन्त कर दिया है, जिनकी आत्मा रज, मल रहित अर्थात् विशुद्ध है आदि वाक्य प्रश्नकार की कुयुक्ति का स्वयं छेदन कर रहे हैं, अतएव यह स्पष्ट हो चुका कि—द्रव्य निक्षेप वंदनीय पूजनीय नहीं है। और जब द्रव्य निक्षेप (जोकि—भाव का अधिकारी किसी समय था, या होगा) भी वंदनीय पूजनीय नहीं तो मनःकल्पित स्थापना—मूर्ति अवंदनीय हो इसमें कहना ही क्या है ? यहां तो शंका को स्थान ही नहीं होना चाहिये।



३३—मरीचि वंदन

प्रश्न—त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र में लिखा है कि प्रथम जिनेश्वर ने जब यह कहाकि—"मरीचि इसी अवसर्पिणी काल में अंतिम तीर्थंकर होगा" यह सुनकर भरतेश्वर ने उसके पास जाकर उसे वन्दना नमस्कार किया, इससे तो आपको भी द्रव्य निक्षेप वंदनीय स्वीकार करना पड़ेगा, क्या इसमें भी कोई बाधा है ?

उत्तर—हां, यह मरीचि वन्दन का कथन भी आगमप्रमाण रहित और अन्य प्रमाणों से बाधित होने से अमान्य है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि—यह "त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र' जो कि श्री हेमचन्द्राचार्य का बनाया हुआ है आगम की तरह मान्य कैसे हो सकता है ? जबकि इसके रचयिता में सिवाय मति, श्रुति के कोई भी विशिष्ठ ज्ञान नहीं था तो उन्होंने तीसरे आरे की बात पचम आरे के एक हजार से भी अधिक वर्ष बीत जाने पर कैसे जानली ? यहां हम विषयान्तर के भय से अधिक नहीं लिखकर "त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र" की समालोचना एक स्वतन्त्र ग्रंथ के लिए छोड़

कर इतना ही कहना चाहते हैं कि—ऐसे ग्रंथों के प्रमाण यहां कुछ भी कार्य साधक नहीं हो सकते, जो ग्रंथ उभय मान्य हों वही प्रमाण में रक्खे जाने चाहिए अन्यथा प्रमाणदाता को विफल मनोरथ होना पड़ता है।

अन्तकृतदशांग में लिखा कि बाइसवें तीर्थंकर प्रभु ने श्री-कृष्ण वासुदेव को आगामी चौवीसी में बारहवें तीर्थंकर होने का भविष्य सुनाया, यह सुनकर श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए जंघा पर कर-स्फोट कर सिंहनाद किया। इससे अनुमान होता है कि उस समय समव सरण-स्थित चतुर्विध संघ तो ठीक पर कई योजन दूर तक यह आवाज़ पहुंची होगी और समव सरण में तो सभी को इसका कारण मालूम हो गया कि—यह ध्वनि श्रीकृष्ण ने भविष्य कथन सुनकर प्रसन्नता से की है। जब जनता और प्रभु के साधु साध्वी यह जान गये कि—श्रीकृष्ण भविष्य में प्रभु की तरह ही तीर्थंकर होंगे। तब सभी श्रमणों को और गृहस्थों को चाहिए था कि—वे भी आपके भरतेश्वर की तरह कृष्ण को वन्दना नमस्कार करते? क्योंकि वे भी तो मरीचि की तरह द्रव्य तीर्थंकर थे? किन्तु जब हम अन्तकृद्-दशांग देखते हैं, तब उसमें सिंहनाद आदि का तो वर्णन है, पर वन्दनादि के लिए तो बिलकुल मौन ही पाया जाता है। यही हाल ठाणांग सूत्र के नवमस्थान में श्रेणिक के भविष्य कथन का है। जब तीर्थंकर भाषित सूत्रों में यह बात प्रकरण से भी नहीं मिलती तो अन्य ग्रन्थों में कैसे और कहां से आई? और त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के रचयिता ने किस दिव्य ज्ञान द्वारा यह सब जाना? किसी भी बात को कल्पना के जरिये विद्वत्ता पूर्वक रच डालने से ही वह ऐतिहासिक नहीं हो सकती। इस प्रमाण के बाधक कुछ उदाहरण भी दिये जाते हैं।

(क) कोई बुनकर कपडा बुनने को यदि सूत लाया है उस सूत से वह कपडा बनावेगा, व मान में वह कपडा नहीं पर सूत ही है। फिर भी वह बुनकर यदि सूत को ही कपडे के मूल्य में बेंचना चाहे या खरीदने वाले से उस सूत को देकर वस्त्र का मूल्य लेना चाहे तो उसे निराश होना पडता है। क्यों कि वह वर्तमान में सूत है उससे वस्त्र के दाम नहीं मिल सकते। इसी प्रकार भविष्य में उत्पन्न होने वाले गुण को लक्ष्य कर वर्तमान में उन उत्तम गुणों से रहित व्यक्ति को वैसा मान नहीं दिया जा सकता।

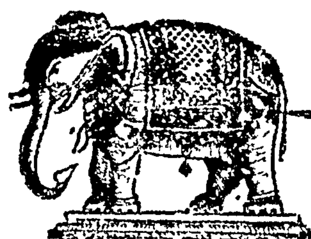
(ख) कोई शिल्प—कार मूर्ति बनाने के लिए एक पाषाण खण्ड लाया है उस पाषाण की वह मूर्ति बनावेगा उस पर काम भी करने लग गया है किन्तु अभी तक मूर्ति पूर्ण रूप से बनी नही है, इतने में ही कोई मूर्ति-पूजक आकर उससे मूर्ति माँगे तब वह शिल्पकार यदि कहदे कि-यह अपूर्ण मूर्ति ही ले लो तो क्या वह मूर्ति पूजक उस अपूर्ण मूर्ति को पूरे दाम देकर खरीदेगा ? नही यद्यपि वह भविष्य में पूर्ण रूप से ठीक बन जायगी पर वर्तमान में अपूर्ण है, इस लिए व्यवहार में भी उसका पूरा मूल्य नहीं मिल सकता, तो धर्म कार्य में द्रव्य निक्षेप वन्दनीय पूजनीय कैसे हो सकता है ?

(ग) एक गाय की छोटी सी बछिया है, जो भविष्य में गाय बन कर दूध देगी, किंतु हमारे मूर्ति पूजक प्रश्नकार के मतानुसार उस बछिया से ही जो कोई दूध प्राप्त करने की इच्छा से क्रिया करे, तो उस जैसा मूर्ख शिरोमणि ससार में और कौन हो सकता है। जब छोटी बछिया यद्यपि गाय के द्रव्य निक्षेप में है किन्तु वर्तमान में दूध देने रूप भाव निक्षेप की कार्य साधक नहीं होती तब गुण शून्य द्रव्य निक्षेप वदनीय पूजनीय किस प्रकार माना जा सकता है।

(घ) २४ वें प्रश्नोत्तर के पांचों उदाहरण भी यहां प्रकरण संगत हैं।

ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, सुज्ञ जनता इन उदाहरणों पर शान्त चित्त से विचार करेगी तो मालूम होगा कि—द्रव्य निक्षेप को भाव सदृश मानना वास्तव में बुद्धिमत्ता नहीं है।

इस तरह सत्य को समझ कर पाठक अपना कल्याण साधें यही निवेदन है।



१७—सिद्ध हुए तीर्थंकर और द्रव्य निक्षेप



प्रश्न—चौबीस तीर्थंकर वर्तमान में सिद्ध हो चुके हैं उनकी आत्मा अब अरिहंत या तीर्थंकर के द्रव्य निक्षेप में ही है उन सिद्धों को अब अरिहंत या तीर्थंकर मानकर वन्दना स्तुति करते हो, क्या यह द्रव्य निक्षेप का वन्दन नहीं है?

उत्तर—उक्त कथन के समाधान में यह समझना चाहिये कि—

जो तीर्थंकर या अरिहंत सिद्ध हो चुके हैं उनकी अभी वन्दना या स्तुति करते हैं वह द्रव्य निक्षेप में नहीं है, क्योंकि जो आत्माश्रित भाव गुण अर्हतावस्था में थे वे सिद्धावस्था में भी कायम हैं, सिद्धावस्था में तो और भी गुणवृद्धि ही हुई है। फिर उन्हें सामान्य द्रव्य निक्षेप से कैसे कह सकते हैं? गुण पूजकों के लिये तो यह प्रश्न ही अनुचित है।

सिद्धावस्था की आत्मा अरिहंत दशा का मूल द्रव्य होकर भी द्रव्य निक्षेप से विशेषता रखता है, कारण यहां गुणों से सम्बन्ध है जिस प्रकार अणुव्रत वाला श्रावक जब महाव्रत

धारी साधु हो जाता है तब वह श्रावक का द्रव्य निक्षेप है, फिर भी गुण वृद्धि की अपेक्षा वन्दनीय है, किन्तु वही साधु जो श्रावक से साधु बना था कर्मों के जोग से संयम मार्ग से पतित हो जाय तो श्रावक पद से भी वन्दनीय नहीं रहेगा। क्योंकि वन्दन, नमन का स्थान है गुण, और उन श्रुत चारित्र रूप गुणों की न्यूनता वाला बन जाने से वह आत्मा वंदनीय नहीं रहा, इससे विपरीत जहां गुण वृद्धि होती है वह भूत और वर्तमान दोनों काल में वन्दनीय ही होता है।

इस विषय में यदि आप सांसारिक उदाहरण भी देखना चाहें तो बहुत मिल सकते हैं अधिक नहीं केवल एक ही उदाहरण यहां दिया जाता है, देखिये—

वर्तमान में जितने पदच्युत राजा और सम्राट हैं वे पहले तो प्रायः युवराज रहे होंगे, और युवराज के बाद राजा या सम्राट बने जो प्रजा युवराज अवस्था में उन्हें मान देती थी, वही राजा होने पर भी मान देती रही, बल्कि पहले से भी अधिक किन्तु काल चक्र के फेर से वे राज्यच्युत हो गये तो युवराज अवस्था वाला आदर भी उनके भाग्य में नहीं रहा, आज उनकी क्या हालत है यह तो प्रायः सभी जानते हैं।

यहां निर्विवाद सिद्ध हुआ कि मान पूजा गुणों की ही अपेक्षा रखती है, इस लिये गुण वृद्धि रूप सिद्धावस्था को लेकर गुण रहित द्रव्य निक्षेप के साथ उसकी तुलना करके सामान्य द्रव्य निक्षेप को वन्दनीय ठहराना किसी प्रकार योग्य नहीं है।

१८—साधु के शव का बहुमान

प्रश्न—मृतक साधु के शव की अंतिमक्रिया आप बहुमान पूर्वक करते है उसमें धन भी खूब खर्च करते है तो भी क्या यह द्रव्य निक्षेप को वन्दन नहीं हुआ?

उत्तर—साधु के शव की अंतिमक्रिया जो हम करते है यह धर्म समझ कर नहीं किन्तु अपना कर्तव्य समझ कर करते हैं, शव की अंतिमक्रिया करना अनिवार्य है, नहीं करने से कई प्रकार के अनर्थ होने कि सम्भावना है। अतएव यह क्रिया आवश्यक और अनिवार्य होने से की जाती है इसमें धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसके सिवाय जो बहुमान किया जाता है वह शव का नहीं पर शव होने के पूर्व शरीर में रहने वाले संयमी गुरू की आत्मा का है, और यह क्रिया केवल व्यवहारिक कर्तव्य का पालन करने के लिये ही होती है। ससार में भी जो व्यक्ति अधिक जन प्रिय, पूज्य या मान्य होगा, बहुतों का नेता होगा उसके मरने पर उसके शव की अंतिमक्रिया भी

बहुमान और पुष्कल द्रव्य व्यय कर की जायगी उसमें जो बहुमान होगा वह उस शव का ही नहीं किन्तु उस शव का कुछ समय पूर्व जो एक उच्च आत्मा से सम्बन्ध रहा था, उस आत्मा के ही बहुमान के कारण शरीर से उसके निकल जाने पर भी शव का मान होता है, बस इसी प्रकार हम भी हमारे गुरू के मृत शरीर की अंतिमक्रिया करते हैं। और यही मान्यता रखते हैं कि यह क्रिया व्यवहारिक है किन्तु धार्मिक नहीं। अतएव व्यवहारिक और आवश्यक क्रिया का धार्मिक विषय में जोड़ देना अनुचित है, इस प्रकार द्रव्य निक्षेप वन्दनीय नहीं हो सकता।



१९-क्या जिन मूर्ति जिन समान है?



प्रश्न— जिन प्रतिमा जिन समान है ऐसा सूत्र में कहा है, फिर आप क्यों नहीं मानते?

उत्तर—उक्त कथन भी सत्य से परे है। आश्चर्य तो इस बात का है कि जब मूर्ति पूजा करने की ही प्रभु आज्ञा नहीं तब यह प्रश्न ही कैसे उपस्थित हो सकता है? वास्तव में यह कथन हमारे मूर्ति-पूजक बन्धुओं ने अतिशयोक्ति भरा ही किया है। इसी प्रकार श्री विजयानन्द सूरिजी ने भी 'सम्यक्त्व शल्योद्धार' में इस विषय को सिद्ध करने के लिये व्यर्थ प्रयास किया है, वे लिखते हैं कि साक्षात् प्रभु को नमस्कार करते समय 'देवयं चेइयं पज्जुवासामि' कहते हैं, जिसका अर्थ यह होता है कि—

देव सम्बन्धी चैत्य सो जिन प्रतिमा तिसकी तरह सेवा करूं, इस प्रकार मनमाना अर्थ किया है, श्रीमान् विजयानन्द जी ने तो सम्यक्त्व शल्योद्धार चतुर्थावृत्ति पृ० १०३ में यहां तक लिख डाला है कि-'भावतीर्थंकर से भी जिनप्रतिमा

की अधिकता है क्या अब भी अनर्थ में कुछ कसर है ? किन्तु इसका अर्थ जो प्रकरण संगत वह मूल पाठ और उसका शुद्ध अर्थ निम्न प्रकार से है देखिये—

कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि

अर्थ—आप कल्याणकर्ता हैं, मंगल रूप हैं धर्मदेव हैं, ज्ञानवत हैं, मैं आप की सेवा करता हूं।

यह अर्थ शुद्ध और प्रकरण संगत है, स्वयं राज प्रश्नीय के टीकाकार आचार्य भी उक्त पाठ की टीका इस प्रकार करते हैं देखिये——क०कल्याण करित्वात् मं० दुरितोपशम कारित्वात् दे० त्रैलोक्याधि पतित्वात्

चैत्यं सुप्रशस्त मनोहेतुत्वात्

यहां स्वयं प्रभु को वन्दना करने के विषय में उक्त शब्द का टीकाकार ने सुप्रशस्त मन के हेतु कहकर स्वयं सर्वज्ञ प्रभु को ही इसका स्वामी माना है और प्रभु अनन्त ज्ञानी है अतः हमारा उक्त अर्थ ही सिद्ध हुआ। इसका प्रतिमा अर्थ इनके माननीय टीकाकार के मन्तव्य से भी बाधित हुआ। अतएव इस युक्ति से जिन प्रतिमा को जिन समान कहना व्यर्थ ही ठहरता है।

जब कल्लाणं, मंगलं, दो शब्दों का अर्थ तो आपभी कल्याणकारी, मंगलकारी करते हैं, तब देवयं, चेइयं, इन दो शब्दों का देवता सम्बन्धी चैत्य जिन प्रतिमा की तरह ऐसा अघटित अर्थ किस प्रकार करते हैं ? देवयं, चेइयं, भी कल्लाणं, मंगलं की तरह पृथक दो शब्द है वहां दोनों का स्व-

तन्त्र भिन्न अर्थ करके यहां दोनों को असम्बन्धित करके बाद में उपमावाची वाक्य की तरह लगा देना क्या मत मोह नहीं है ? फिर भी अर्थ तो असंगत ही रहा, टीकाकार के मत से भी बाधित ठहरा। अतएव उक्त मनमाने अर्थ से प्रश्न को सिद्ध करने की चेष्टा विफल ही है। मूर्ति पूजक समाज के प्रसिद्ध विद्वान पं० बेचरदासजी को भी चैत्य शब्द का जिन मूर्ति अर्थ मान्य नहीं, इस अर्थ को पंडितजी नूतन अर्थ कहते हैं देखो जन साहित्य मा विकार थवाथी थयेली हानि)

इसके सिवाय जिन-मूर्ति को जिन समान मानने वाले बन्धु राजप्रश्नीय की साक्षी देते हुए कहते हैं कि यहां जिन प्रतिमा को जिन समान कहा है किन्तु यह समझना उनका भूल से भरा हुआ है, राजप्रश्नीय में केवल शब्दालंकार है, किन्तु उसका यह आशय नहीं कि मूर्ति साक्षात् के समान है।

एक साधारण बुद्धि वाला मनुष्य भी यह जानता है कि पत्थर निर्मित गाय साक्षात् गाय की बराबरी नहीं कर सकती, साक्षात् गाय से दूध मिलता है, और पत्थर की गाय से बस पत्थर ही। जब साक्षात् फूलों से मोहक सुगन्ध मिलती है तब कागज के बनाये हुए फूलों से कुछ भी नहीं। साक्षात् सिंह से गजराज भी डरता है किन्तु पत्थर के बनावटी सिंह से भेड़, बकरी भी नहीं डरती। असली रोटी को खाकर सभी क्षुधा शान्त करते हैं किन्तु चित्रनिर्मित कागज की रोटी को खाने का प्रयत्न तो मूर्ख और बालक भी नहीं करते। इस प्रकार असल नकल के भेद और उसमें रहा हुआ महान् अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है, असल की बराबरी नकल कभी नहीं कर सकती, फिर धुरंधर विद्वान् और शास्त्रज्ञ कहे जाने

वाले मूर्ति को अनंत ज्ञानी, अनंत गुणी ऐसे तीर्थंकर प्रभु के समान ही माने और वंदना पूजादि करे, यह कितनी हास्य जनक पद्धति है।

जबकि—साक्षात् हाथी का मूल्य हजारों रुपया है, उसका दैनिक खर्च भी साधारण मनुष्य नहीं उठा सकता, राजा महाराजा ही हाथी रखते हैं, हाथी रखने में बहुत बड़ी आर्थिक शक्ति की आवश्यकता है, इससे उल्टा मूर्ति की ओर देखिये, एक कुम्हार मिट्टी के हजारों हाथी बनाता है और वे हाथी पैसे २ में बाजार में बालकों के खेलने के लिए बिकते हैं। इस पर ही यदि विचार किया जाय तो असल व नकल में रही हुई भिन्नता स्पष्ट दिखाई देती है। जब साक्षात एक हाथी का ही मूल्य हजारों रुपया है, तब हाथी की एक हजार मूर्तियों का मूल्य हजार पैसे भी नहीं। असल हाथी के रखने वाले राजा महाराजा होते हैं, तब मिट्टी के हजारों हाथी रखने वाले कुम्हार को भर पेट अन्न और पूरे वस्त्र भी नहीं। यदि ऐसे हजारों हाथी वाला कुंभकार राजा महाराजा की बराबरी करने लगे और गर्वयुक्त कहे कि—'राजा के पास तो एक ही हाथी है किन्तु मेरे पास ऐसे हजारों हाथी हैं इसलिए मैं तो राजाधिराज (सम्राट) से भी अधिक हूं" ऐसी सूरत में वह कुंभकार अपने मुंह भले ही मियाँ मिट्ठू बनजाय किन्तु सर्व साधारण की दृष्टि में तो वह सिर्फ "शेखचिल्ली" ही है।

बस यही हालत "जिन प्रतिमा जिन सारखी" कहने वालों की है यद्यपि मूर्ति को साक्षात् के सदृश मानने का कथन

असत्य ही है, तथापि थोड़े समय के लिए केवल दलील के खातिर इनका यह कथन मान भी लिया जाय तो भी उनकी पूजा पद्धति व्यर्थ ही ठहरती है, क्योंकि—प्रभु ने दीक्षितावस्था के बाद कभी भी स्नान नहीं किया, न फूल मालाएं धारण कीं, न छत्र मुकुट कुण्डलादि आभूषण पहने, न धूप दीप आदि का सेवन किया, ऐसे एकान्त त्यागी भगवान के समान ही यदि उनकी मूर्ति मानी जाय तो—उस मूर्ति को सचित्त जल से स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, फूलों के हार पहनाने, फूलों को काट कर उनसे अंगिया बनाने, केले के पेड़ों को काटकर कदली घर आदि बनाकर सजाई करने, धूप, दीप द्वारा अगणित त्रस स्थावरों की हत्या करने, केशर चन्दन आदि से विलेपन करने आदि की आवश्यकता ही क्या है ? क्या दीक्षितावस्था—(धर्मावतार अवस्था) में कभी प्रभु ने इन वस्तुओं का उपभोग किया था ? यदि नहीं किया तो अब यह प्रभु विरोधिनी भक्ति क्यों की जाती है ? जिन दयालु प्रभु ने पानी पुष्पादि के जीवों का स्पर्श ही नहीं किया और अपने श्रमणवंशजों को भी सचित्त पानी, पुष्प, फल, अग्नि आदि के स्पर्श करने की मनाई की, उन्हीं प्रभु पर उनकी निषेध की हुई सचित्त वस्तुओं का प्राण हरण कर चढ़ाना क्या यह भी भक्ति है ? नहीं, ऐसी क्रिया को भक्ति तो किसी भी प्रकार नहीं कह सकते, वास्तव में यह भक्ति नहीं किन्तु प्रभु का 'महान् अपमान है' प्रभु के सिद्धान्तों का प्रभु पूजा के लिए ही प्रभु पूजक दिन दहाड़े भंग करें, यह तो मित्र होकर शत्रुपन के कार्य करने के बराबर है' ।

जिन परम दयालु प्रभु ने धर्म के लिए की जाने वाली व्यर्थ हिंसा को अनार्य कर्म कहा, अहित कारिणी बताई, उन्हीं के भक्त उन्हीं प्रभु के नाम पर निरपराध मूक प्राणियों का अकारण ही नाश कर धर्म माने, यह कितने आश्चर्य की बात है ?

जिस त्यागी वर्ग के लिए त्रिकरण, त्रियोग से हिंसा करने, कराने, अनुमोदने का निषेध किया गया, जिन त्यागी श्रमणों ने स्वयं ईश्वर और गुरु साक्षी से किसी भी करण-योग से हिंसा नहीं करने की स्पष्ट प्रतिज्ञा ली, वही त्यागी वर्ग पक्ष व्यामोह में पड़कर अपने कर्त्तव्य—अपनी प्रतिज्ञा को ठोकर मारकर प्रभु की पूजा के नाम पर अगणित निरपराध जीवों की हिंसा करने का गला फाड़ २ कर उपदेश आदेश दे, यह कितनी लज्जा की बात है ?

क्या जिन मूर्ति को साक्षात् जिन समान मानने वाले अपनी प्रभु विरोधिनी पूजा के जरिये होते हुए प्रभु के अपमान को समझ कर सत्यपथ गामी बनेंगे ?

वास्तव में तो मूर्ति साक्षात् के समान हो ही नहीं सकती जबकि मृतकलेवर भी जीवित की स्थान पूर्ति नहीं कर सकता, इसीलिए जलाकर या पृथ्वी में गाड़ कर नष्ट कर दिया जाता है, तब पत्थर या काष्ट की मूर्ति अथवा चित्र क्या साक्षात् की समानता करेंगे ? अतएव सरल बुद्धि से विचार कर मान्यता शुद्ध करनी चाहिए ?

३०—समवसरण और मूर्ति

प्रश्न—तीर्थंकर समवसरण में बैठते हैं तब अन्य दिशाओं में उनकी तीन मूर्तियों में देवता रखते हैं उन मूर्तियों को लोग वन्दना नमस्कार करते हैं, इस हेतु से तो मूर्ति पूजा सिद्ध हुई?

उत्तर—उक्त कथन भी आगम प्रमाण रहित और मिथ्या है। भगवान समवसरण में चतुर्मुख दिखाई देते हैं ऐसा जो कहा जाता है उसका खास कारण तो भामण्डल का प्रकाश ही पाया जाता है। हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र के नववें प्रकाश के प्रथम श्लोक में स्वयं प्रभु को ही 'चतुर्मुखस्य' लिख कर चार मुह वाले कहे हैं किन्तु चार मूर्तियें नहीं कही।

आज भी कितने ही मन्दिरों में एक मूर्ति के आस पास ऐसे ढग से शीशे (काच) रखे हुए देखे जाते हैं कि जिससे एक ही मूर्ति पृथक २ चार पांच की सख्या में दिखाई दे। कई जगह महलों में ऐसे कमरे देखे गये कि जिसमें जाने से

एक ही मनुष्य अपने ही समान चार पांच रूप और भी देख कर आश्चर्य करने लग जाता है, यह सब दर्पण के कारण ऐसा दिखाई देता है, जब मनुष्य कृत दर्पण में ही ऐसी विचित्र दिखाई देती है तब देवकृत समवसरण के उद्योत में और प्रभामण्डल के प्रकाश तथा तीसरा स्वयं प्रभु का ही दैदीप्यमान सूर्य्य के समान तेजस्वी मुखकमल, इस प्रकार तीन प्रकार के उद्योत से प्रभु चतुर्मुख दिखाई दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

'त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र' में और जैन रामायण में लिखा है कि रावण अपने हार की नो मणियों की प्रभा के कारण दशानन (दश मुंह वाला) दिखाई देता था। रावण के मुंह का प्रतिबिंब हार की नव मणियों में पड़ने से देखने वालों को रावण दश मुख का दिखाई देता था। इसी प्रकार यदि प्रभामण्डलादि के प्रकाश के कारण यदि प्रभु चतुर्मुख दिखाई दें तो इसमें कोई अचरज नहीं। किन्तु तीन दिशाओं में मूर्तियें रखने का कथन तो मूर्ति-पूजक महानुभावों का प्रमाण शून्य और मनःकल्पित ही पाया जाता है।



३१-क्या पुष्पों से पूजा पुष्पों की दया है ?

प्रश्न—पुष्पों से पूजा करना पुष्पों की दया करना है। क्योंकि यदि उन पुष्पों को वेश्या या अन्य भोगी मनुष्य ले जाते तो उनके हार गजरे आदि बनाते, शैय्या सजा कर ऊपर सोते, सूंघते तथा इत्र तेल आदि बनाने वाले सड़ा गला कर भट्टी पर चढाते, इस प्रकार पुष्पों की दुर्दशा होती। इस लिये उक्त दुर्दशा से बचाकर प्रभु की पूजा में लगाना उत्तम है, इससे वे जीव सार्थक होजाते हैं, यह उनकी दया ही है (सम्यक्त्व शल्योद्धार) और आवश्यक सूत्र में 'महिया' शब्द से फूलों से पूजा करने का भी कहा है, यह स्पष्ट बात तो आप भी मानते होंगे ?

उत्तर—उक्त मान्यता मिथ्यात्व पोषक और धर्म घातक है, इस प्रकार भोगियों की ओट लेकर मूर्ति पूजा को सिद्ध करना और उसमें होती हुई हिंसा को दया कहना यह तो वेद विहित हिंसा का अनुमोदन करने के समान है। जो लोग हिंसा करके उसमें धर्म मानते हैं उन्हें यज्ञ में होती हुई

हिंसा को हेय (छोड़ने योग्य) कहने का क्या अधिकार है? वे भी तो उन जीवों को खाने के लिये मारने वालों से बचा कर यज्ञ में होम कर देव पूजा करना चाहते हैं? और उसी प्रकार उन जीवों को भी स्वर्ग में भेजना चाहते हैं?

महानुभावों? पक्ष व्यामोह के वश होकर क्यों हिंसा को प्रोत्साह देते हो? आपकी पुष्प पूजा में उक्त दलील को सुनकर जब याज्ञिक लोग आपसे पूछेंगे कि महाशय? हमको खोटे बताने वाले आप खुद देव पूजा के लिए हिंसा करके उसमें धर्म कैसे मानते हो? मार डालने पर उन जीवों की दया कैसे हो सकती है? हमारी हिंसा तो हिंसा और साथ ही निन्दनीय और आपकी हिंसा दया और सराहनीय यह कहां का न्याय है? तब आप क्या उत्तर देंगे? क्या आपको वहां अधो दृष्टि नहीं करनी पड़ेगी?

क्या कभी सरल बुद्धि से यह भी सोचा कि फूल भले ही भोग के लिये तोड़े जांय या इत्र फुलेलादि के या भले ही पूजा के लिए, उनकी हत्या तो अनिवार्य है, हत्या होने के बाद भले ही उनसे शय्या सजावें, हार बनावें या पूजा के काम में लेवें, उन्हें तो जीवन से हाथ धोना ही पड़ा न? पूजा या भोग के लिये तोड़ने में उन्हें कष्ट तो समान ही होता है, दोनों में अत्यन्त दुख के साथ मृत्यु निश्चित ही है फिर इस में दया हुई?

पुष्पों से पूजा करने का उपदेश और आदेश देने वाले श्रमण अपने प्रथम और तृतीय महाव्रत का स्पष्ट भङ्ग करते हैं। यदि इसमें संदेह हो तो पुष्प पूजा में दया मानने वाले आपके विजयानन्दसूरिजी ही हिंदी जैन तत्त्वादर्श पृ० ३२७

में फल, फूल, पत्रादि तोड़ने को जीव अदत्त कहते हैं, देखिये—

'दूसरा सचित्त वस्तु अर्थात् जीव वाली वस्तु फूल, फल, बीज, गुच्छा, पत्र, कंद, मूलादिक तथा बकरा, गाय, सुअरादिक इनको तोड़े, छेदे, भेदे, काटे सो जीव अदत्त कहिये, क्योंकि फूलादि जीवों ने अपने शरीर के छेदने भेदने की आज्ञा नहीं दीनी है, जो तुम हमको छेदो भेदो, इस वास्ते इसका नाम जीव अदत्त है'।

विजयानन्दसूरिजी के उक्त सत्य कथनानुसार पत्र फूलादि का तोड़ना जीव अदत्त है और अदत्त ग्रहण तीसरे महाव्रत का भङ्गकर्त्ता है, इसके सिवाय प्राणी हिंसा होने से प्रथम अहिंसा व्रत का भी नाश होता है, इस प्रकार यह पुष्प पूजा स्पष्ट (प्रत्यक्ष) महाव्रतों की घातक है, ऐसी महाव्रतों के मूल में कुठाराघात करने वाली पूजा का उपदेश, आदेश और अनुमोदन महाव्रती श्रमण तो कदापि नहीं कर सकते। न हिंसा में दया बताने वाला पापयुक्त लेख ही लिख सकते हैं।

इन बेचारे निरपराध पुष्प के जीवों के प्रथम तो भोगी और इत्र तेलादि बनाने वाले ही शत्रु थे, जिनसे रक्षा पाने के लिए इनकी दृष्टि त्यागियों पर थी, क्योंकि जैन के त्यागी श्रमण छः कायजीवों के रक्षक, पीहर होते हैं, वे स्वयं हिंसा नहीं करते हैं इतना ही नहीं किन्तु हिंसा करने वालों से भी जीवों की रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं, अतएव त्यागी म-

हात्मा ही भोगियों को उपदेश देकर हमारी रक्षा का प्रयत्न करेंगे ऐसी आशा थी किन्तु जब स्वयं त्यागी कहाने वाले भी कमर कसकर पुष्पों की अधिक २ हिंसा करवा कर उनमें धर्म बतावें, तब वे बेचारे कहां जावें? किसकी शरण लें? यह तो दुधारी तलवार चली, पहले तो भोगी लोग ही शत्रु थे, और अब तो त्यागी कि जिनसे रक्षा की आशा थी—वे भी शत्रु होगये।

भोगी लोगों में से बहुत से तो फूलों को तोड़ने में हिंसा ही नहीं मानते, और जितने मानते हों तो वे भी अपने भोगों के लिए तोड़ते हैं, किन्तु उसमें धर्म तो नहीं मानते, पर आश्चर्य तो यह है कि—सर्व त्यागी पूर्ण अहिंसक कहाने वाले ये त्यागी लोग फूलों को तोड़ने तुड़वाने में हिंसा तो मानते हैं किन्तु इस हिंसा में भी धर्म दया) होने की—विप को अमृत कहने रूप-प्ररूपणा करते हैं। इस पर से तो कोई भी सुज्ञ यह सोच सकता है कि—"अधिक पातकी कौन है? ये कहे जाने वाले त्यागी या भोगी? पाप को पाप, झूठ को झूठ, खोटे को खोटा कहने वाला तो सच्चा सत्य वक्ता है, किन्तु पाप को पुण्य, झूठ को सत्य, खोटे को खरा, कहने वाले तो स्पष्ट सतरहवें पाप स्थान का सेवन (जानबूझकर माया से झूठ बोलना) करने के साथ अन्य जीवों को अठारहवें पाप स्थान में धकेलते हैं, और आप भी इसी अन्तिम प्रबल पाप स्थान के स्वामी बन जाते हैं। हजारों भद्र लोगों को भ्रम में डालकर मिथ्या युक्तियों द्वारा उनकी श्रद्धा को भ्रष्ट करने व उन्हें उन्मार्ग गामी बनाने वाले संसार में नाम धारी त्यागी लोग जितने हैं, उतने दूसरे नहीं।

अब इन लोगों के बताये हुए "महिया" शब्द पर विचार करते हैं —

आवश्यक हरिभद्रसूरि की वृत्ति वाले में यह स्पष्ट उल्लेख है कि—"महिया" शब्द पाठान्तर का है, मूल पाठ तो है "मइआ' जिसका अर्थ होता है 'मेरे द्वारा' (मेरे द्वारा वंदन स्तुति किये हुए) वृत्तिकार लिखते हैं कि—

'मइआ—मयका, महिया इतिच पाठान्तर,'

जबकि मू० पू० समाज के मान्य और लगभग १२०० सौ वर्षों के पूर्व होगये ऐसे आचार्य ही इस 'महिया' शब्द को पाठान्तर मानते हैं, तब ऐसी हालत में इस विषय पर अधिक उहापोह करने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

जो 'महिया शब्द हरिभद्रसूरि के समय' तक पाठान्तर में माना जाता था वह पीछे के आचार्यों द्वारा 'मइआ' को मूल से हटाकर स्वयं मूल रूप बन गया।

फिर भी हम प्रश्नकार के संतोष के लिए थोड़ी देर के वास्ते 'महिया' शब्द को मूल का ही मानलें तो भी इस शब्द का अर्थ—पुष्पादि से पूजा करना ऐसा आगम सम्मत नहीं हो सकता, क्योंकि ·   ˉ ।

क्योंकि यह 'महिमा' शब्द 'चतुर्विंशतिस्तव' (लोगस्स) का है, इस स्तव से चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति की जाती है, यह सपूर्ण पाठ और इसका एक २ वाक्य स्तुति से ही भरा है, इसके किसी भी शब्द से किसी अन्य द्रव्य से पूजा करने का अर्थ नहीं निकलता, केवल मन, वाणी, शरीर द्वारा ही भक्ति करने का यह सारा पाठ है। अब यह महिया शब्द जहां आया है उसके पहले के दो शब्द और लिखकर इसका सत्य अर्थ बताया जाता है,—

कित्तिय वंदिय महिया,



कि० वाणी द्वारा कीर्ति (स्तुति) करना
वं० शरीर द्वारा वन्दन करना,
म० मन द्वारा पूजा करना'

इस प्रकार तीनों शब्दों का मन, वचन, और शरीर द्वारा भक्ति करने का अर्थ होता है, यदि महिया शब्द से फूलों से पूजा करने का कहोगे तो मन द्वारा भाव पुजा करने का दूसरा कौनसा शब्द है ? और जब सारा लोगस्स का पाठ ही अन्य द्रव्यों से प्रभु भक्ति करने की अपेक्षा नहीं रखता तब अकेला महिया शब्द किस प्रकार अन्य द्रव्यों को स्थान दे सकता है ? वैसे तो आप पुष्पादिभिः के साथ 'जलादिभिः' 'चन्दनादिभिः' 'आभूपणादिभिः धुपादिभिः मनमाना अर्थ लगा सकते हो इसमें आपको रोक ही कौन सकता है ? किन्तु इस प्रकार मनमानी धकाने में कुछ भी लाभ नहीं है, उल्टा व्यर्थ में हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है, जिस से हानि अवश्य है। सरल भाव से सोचने पर ज्ञात होगा कि मूल में तो मात्र 'महिया' शब्द ही है, जिसका अर्थ पूजा

होता है अब यह पूजा कैसी और किस प्रकार की होनी चाहिये, इसके लिये जैन को तो अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती. क्योंकि जैनियों के देव वीतराग है वे किसी बाहरी पौद्गलिक वस्तु को आत्मा के लिये उपयोगी नहीं मानते, पुद्गलों के त्याग को ही जिन्होंने धर्म कहा है वे स्वयं सुगन्ध सेवन आदि के त्यागी है, फिर ऐसे वीतराग की पूजा फूलों द्वारा कैसे की जा सके ? ऐसे प्रभु की पूजा तो मन को शुद्ध स्वच्छ निर्विकार बना कर अपने को प्रभु चरणों में भक्ति रूप से अर्पण कर देने में ही होती है, किसी बाहरी वस्तु से नहीं। फिर भी हम यहा आप से पूछते हैं कि अकेले महिया-पूजा शब्द मात्र से फूलों से पूजा होने का किस प्रकार कहा गया ? यह फूल शब्द कहा से लाकर बैठाया गया ? यदि इसके मूल कारण पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट भाषित होता है कि फूलों से पूजने में फूलों की हिंसा होती है इससे बचने के लिये ही महिया शब्द की ओट ली गई है जो सर्वथा अनुपादय है।

(१) यदि महिया शब्द से पुष्प से पूजा करने का अर्थ होता तो गणधर देव अंतकृदशांग सूत्र के छट्ठे वर्ग के तीसरे अध्ययन के चौदहवें सूत्र में अर्जुन माली के मोगरपाणी यक्ष की पुष्प पूजाधिकार में 'पुप्फ चण करेइ' शब्द क्यों लेते ? वहा भी यह महिया शब्द ही लेना चाहिये था ? और सूत्रकार को लोगस्स के पाठ में पुष्प पूजा कहना अभिष्ट होता तो 'पुप्फ चण करेमि' ऐसा स्पष्ट पाठ क्यों नहीं लेते ? महिया शब्द जो कि पुष्प के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता है क्यों लेते ?

(२) महिया शब्द चतुर्विंशतिस्तव का है और स्तव तो साधु भी करते हैं, वह भी दिन में कम से कम दो बार तो अवश्य ही अब हमारे मूर्ति पूजक बन्धु यह बतावें कि क्या साधु भी पुष्प से पूजा करे? आपके मान्य अर्थ से तो मू० पू० साधुओं को भी फूलों से पूजा करना चाहिये, फिर आपके साधु क्यों नहीं करते? इससे तो यही फलित होता है कि आपका यह अर्थ व्यर्थ है तभी तो उसका पालन आप के साधु नहीं करते हैं।

इस विषय में मूर्ति पूजक आचार्य विजयानन्दसूरिजी कहते हैं कि—

'सामायिक में साधु तथा श्रावक पूर्वोक्त महिया शब्द से पुष्पादिक द्रव्यपूजा की अनुमोदना करते हैं। साधु को द्रव्य पूजा करने का निषेध है परन्तु उपदेश द्वारा द्रव्य पूजा करवाने का और उसकी अनुमोदना करने का त्याग नहीं है।

(सम्यक्त्व शल्योद्धार पृ० १८१)

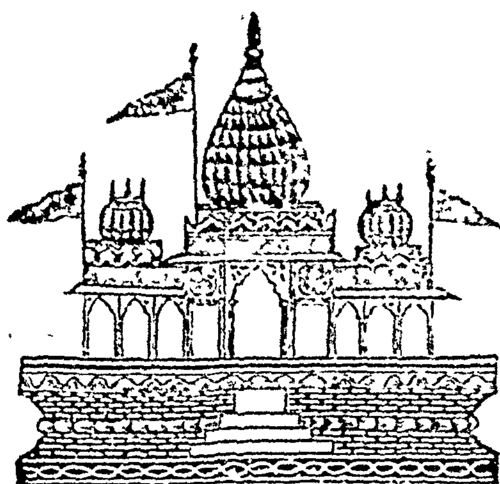
इनके इस प्रकार मनमाने विधान पर पाठक जरा ध्यान से विचार करें कि जो काम स्वयं साधु के लिये त्याज्य है, वह पाप कार्य खुद तो नहीं करे किन्तु दूसरों से करवावे, यह तीन करण तीन योग के त्याग का पालन करना है क्या? मुनि खुद तो हिंसा नहीं करे, झूठ नहीं बोले, चोरी नहीं करे, और दूसरों को हत्या करने झूठ बोलने चोरी करने की आज्ञा दे? यह सरासर अन्धेर खाता नहीं तो क्या है? अरे स्वयं वीर पिता ने आचारांगादि आगमों में धर्म के लिये

वनस्पत्यादि की हिंसा करने का कटु फल बता कर अपने श्रमण भक्तों को उससे दूर रहने की आज्ञा दी है, स्वयं विजयानन्दजी ने भी जैनतत्वादर्श में इसी प्रश्न के उत्तर में प्रारम्भ में बताये अनुसार वनस्पत्यादि का तोड़ना जीव अदत्त बताया है फिर उसी जीव अदत्त की अनुमोदना मुनि करे, यह भी कह डालना श्री विजयानन्दजी का स्ववचन विरोध रूप दूषण से दूषित नहीं है क्या? ऐसा जीव अदत्त और उसके अनुमोदन का जघन्य काम मुनि महोदय किस प्रकार करें? यह समझ में नहीं आता।

इसके सिवाय 'कित्तिय, वंदिय, महिया' इन तीनों शब्दों के लिये करण योगों की भिन्नता नहीं है, तीनों शब्द अपेक्षा रहित हैं, इनके लिये किसी के लिये एक करण और किसी के दो तीन करण या योग का कहना मिथ्या है। ये तीनों शब्द साधु और श्रावक को समान ही लागु होते हैं इनमें से दो शब्दों को छोड़ कर केवल एक 'महिया' शब्द के लिये पक्षपात वश कुतर्क करना यह कैसे सत्य हो सकता है? यदि महिया शब्द से साधु स्वय पुष्पों से पूजा नहीं करके दूसरे की अनुमोदना करे तो क्या त्रिकरण साधु त्यागी स्वय तो हिंसा नहीं करे किन्तु दूसरे हिंसा करने वालों की अनुमोदना तथा हिंसा कारी कार्य का अन्य को उपदेश कर सकते हैं क्या?

हा! एक पंचमहाव्रतधारी साधु कहाने वाले इस प्रकार हिंसा की अनुमोदना करने का और हिंसा करने का उपदेश दें, ग्रन्थों में वैसा विधान करें, यह तो मूर्ति पूजकों का भारी पक्ष व्यामोह ही है, ऐसी विरुद्ध प्ररूपणा शुद्ध साधुमार्ग में तो नहीं चल सकती।

आशा है कि—अब तो पाठक इस महिया शब्द के अर्थ में होने वाले अनर्थ को और उसके कारण को समझ गये होंगे, जबकि—जैनागमों में मूर्ति पूजा और साक्षात् की भी सावद्य पूजा का विधान ही नहीं है, फिर ऐसे कुतर्क को स्थान ही कहां से हो सके? और पुष्प पूजा से पुष्पों की दया होने का वचन साधु तो ठीक पर अविरति सम्यक्त्वी भी कैसे कह सकें? नहीं कदापि नहीं।



३१-आवश्यक कृत्य और मूर्ति-पूजा



प्रश्न—जिस प्रकार साधु आहार पानी करते हैं, बरसते हुए पानी में स्थडिल जाते हैं, नदी उतरते हैं, पानी में बहती हुई साध्वी को निकालते हैं, ऐसे अनेकों कार्य जैसे हिंसा होते हुए किए जाते हैं, उसी प्रकार पूजन में यद्यपि हिंसा होती है, तथापि महान् लाभ होने से करणीय है, ऐसी लाभदायक पूजा का आपके यहां निषेध क्यों किया जाता है?

उत्तर—उक्त उदाहरणों से मूर्ति पूजा करणीय नहीं हो सकती, क्योंकि आहार पानी, स्थडिल गमन आदि कार्य शरीर धारियों के लिये आवश्यक और अनिवार्य है, इस लिये यथाविधि यत्ना पूर्वक उक्त कार्य किये जाते हैं इसी प्रकार कभी नदी उतरना भी अनिवार्य हो तो उसे भी आचारांग में बताई हुई विधि से उतर सकते हैं, अनावश्यकता से नदी उतरने की आज्ञा नहीं है, जैन मुनि यदि कोसों का चक्कर पाला भी रास्ता होगा तो उससे जाने का प्रयत्न करेंगे, किन्तु बिना खास आवश्यकता के नदी में नहीं उतरेंगे। पानी में बहती हुई साध्वी को भी त्याग मार्ग की

रक्षा के लिये बचा सकते हैं जिसके जीवन से अनेकों का उद्धार और परम्परा से लाखों के कल्याण होने की संभावना है बचाना उसको परम आवश्यक भी है, एक साधुव्रत धारिणी महासति के प्राण बचाने का फल अनन्त जीवों की रक्षा करने के समान है, यदि बची हुई साध्वी ने एक भी मिथ्यात्वी अनार्य व क्रूर व्यक्ति को मिथ्यात्व से हटा कर आर्य और दयालु बना दिया, सम्यक्त्व प्राप्त कराया तो उस हिंसक के हाथों से अनेक प्राणी की हिंसा रुक कर भविष्य में वही दया पालक होकर स्व-पर का कल्याण करने वाला हो सकता है, यदि किसी एक को भी बोध देकर साधु दीक्षा प्रदान करेगी तो उससे उसकी आत्मा का उद्धार होने के साथ २ अनेक प्रकारके परोपकार भी होंगे। इसी उद्देश्य से संयमी महाव्रती साधु अपने ही समान संयता महाव्रत धारिणी साध्वी की रक्षा करते हैं। यह सभी कार्य आवश्यक और अनिवार्य होने से किये जाते हैं, इनमें प्रभु की परवानगी आगमों में बताई गई है, ऐसे अपवाद के कार्य अनावश्यकता की हालत में नहीं किये जाते, यदि ऐसे कार्य बिना आवश्यकता के किये जाय तो करने वाला मुनि दण्ड का भागी होता है। साधु आहार पानी स्थंडिल गमन आदि कार्य करते हैं, यही उन्हें शारीरिक बाधाओं के कारण करना पड़ता है, बिना बाधाओं के दूर किये रत्नत्रयी का आराधन नहीं हो सकता, अतएव ऐसे कार्य को यतना पूर्वक करने में कोई हानि नहीं है।

ऐसे आवश्यक और अनिवार्य कार्यों के उदाहरण देकर अनावश्यक और व्यर्थ की मूर्ति पूजा में प्राणी हिंसा करना

यह सरासर अज्ञान है, मूर्ति-पूजा अनावश्यक है, निरर्थक है प्रभु, आज्ञा रहित है, लाभ किंचित भी नहीं है हानि ही है। अतएव ऐसी निरर्थक, अनावश्यक मूर्ति पूजा को उपादेय बनाने के लिये व्यर्थ चेष्टा करना बुद्धिमानी नहीं है।



३३—गृहस्थ सम्बन्धी आरंभ और मूर्ति-पूजा

प्रश्न—गृहस्थ लोग अपने कार्य के लिये फल, फूल पत्र, अग्नि, पानी आदि का आरम्भ करते हैं, गृहस्थ जीवन आरम्भ मय जीवन है, इसमें यदि पूजा के लिये थोड़ासा जल और कुछ फल फूल एक दो दीपक, धूप आदि अलपारम्भ से प्रभु पूजा कर महान् लाभ उपार्जन किया जाय तो क्या हानि है।

उत्तर—आपका उक्त प्रश्न भी विवेक शून्यता का है। समझदार और विवेकवान श्रावक जल, फूलादि कोई भी सचित्त वस्तु आवश्यकतानुसार ही काम में लेते हैं, आवश्यकता को भी घटाकर थोड़ा आरम्भ करने का प्रयत्न करते हैं, आवश्यकता की सीमा में रहकर आरम्भ करते हुए भी आरम्भ को आरम्भ ही मानते हैं और सदैव ऐसे गृहस्थाश्रम सम्बन्धी आवश्यक आरम्भ को भी त्यागने का

मनोरथ करते हैं, श्रावक के तीन मनोरथों में सर्व प्रथम मनोरथ यही है ऐसे श्राद्धवर्य कभी भी आवश्यकता से अधिक आरम्भ नहीं करते, ऐसी हालत में निरर्थक व्यर्थ का आरम्भ तो वे विवेकी श्रावक करें ही कैसे ?

व्यवहारिक कार्यों में जहा द्रव्य व्यय होता है, वहा भी सुज्ञ मनुष्य आवश्यकतानुसार ही खर्च करता है, निरर्थक एक कौड़ी भी नहीं लगाता। और ऐसे ही मनुष्य ससार में आर्थिक संकट से भी दूर रहते हैं। जो निरर्थक आख मूद कर द्रव्य उड़ाते हैं, उनको अन्त में अवश्य पछताना पड़ता है।

इसी प्रकार निरर्थक आरम्भ करने वाला भी अंत में दु:खी होता है।

मूर्ति पूजा में जो भी आरम्भ होता है वह सब का सब निरर्थक व्यर्थ और अन्त में दु:ख दायक है। विवेकी श्रावक जो गृहस्थाश्रम में स्थित होने से आरम्भ करता है, वह भी आरम्भ को पाप ही मानता है, और इस प्रकार अपने श्रद्धान को शुद्ध रखता हुआ ऐसे पाप से पिण्ड छुडाने की भावना रखता है। किन्तु मूर्ति पूजा में जो आरम्भ होता है वह हेय होते हुए भी उपादेय (धर्म) माना जाकर श्रद्धान को बिगाड़ता है। और जब आरम्भ को उपादेय धर्म ही मानलिया तब उसे त्यागने का मनोरथ तो हो ही कैसे ? अतएव मूर्ति-पूजा में होने वाला आरम्भ निरर्थक अनावश्यक है तथा श्रद्धान को अशुद्ध कर सम्यक्त्व से गिराने वाला है अतएव शीघ्र त्यागने योग्य है।

३४—डाक्टर या खूनी !

प्रश्न—जिस प्रकार डाक्टर रोगी की करुण दशा देखकर उसे रोग मुक्त करने के लिए कटु औषधि देता है, आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र क्रिया भी करता है, जिससे रोगी को कष्ट तो होता ही है, किन्तु इससे वह रोग मुक्त हो जाता है और ऐसे रोग हर्त्ता डाक्टर को आशीर्वाद देता है। कदाचित् डाक्टर को अपने प्रयत्न में निष्फलता मिले, और रोगी मर जाय तो भी रोगी के मरने से डाक्टर हत्यारा या खूनी नहीं हो सकता, क्योंकि—डाक्टर तो रोगी को बचाने का ही कामी था। इसी प्रकार द्रव्य पूजा में होने वाली हिंसा उन जीवों की व पूजकों की हितकर्त्ता ही है, ऐसे परोपकारी कार्य (मू० पू०) का निषेध क्यों किया जाता है ?

उत्तर—परोपकारी डाक्टर का उदाहरण देकर मूर्ति पूजा को उपादेय बताना एकदम अनुचित है। उक्त उदाहरण तो उल्टा मूर्ति पूजा के विरोध में खड़ा रहता है। यहां हम डॉक्टर और रोगी सम्बन्धी कुछ स्पष्टीकरण करके उदाहरण की विपरीतता बताते हैं।

जो व्यक्ति शरीर के सभी अंगोपाङ्ग और उसमें रही हुई हड्डियें आदि को जानता व उसमें उत्पन्न होते हुए रोगों की पहिचान कर सकता है तथा योग्य उपचार से उनका प्रतिकार करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए बहुत समय तक अध्ययन मनन आदि कर विद्वानों का संतोष पात्र बना और प्रमाण पत्र प्राप्त कर सका हो वही व्यक्ति डाक्टर होकर रोगी की चिकित्सा करने का अधिकारी है।

जो व्यक्ति रोगी है, वह रोग मुक्त होने के लिए उक्त प्रकार के कार्य कुशल एवं विश्वासपात्र डाक्टर के पास जाकर अपनी हालत का वर्णन तथा निरोग बनाने की प्रार्थना करता है, डाक्टर भी उसके रोग की जांच कर उचित चिकित्सा करता है, डाक्टर के उपचार से रोगी को विश्वास हो जाता है कि—मैं निरोग बन जाऊँगा। यदि डाक्टर को शस्त्र क्रिया की आवश्यकता हो तो वह सर्व प्रथम रोगी की आज्ञा प्राप्त कर लेता है, ये सभी कार्य डाक्टर रोगी के हित के लिए ही करता है, किन्तु भाग्यवशात् डाक्टर अपने परिश्रम में निष्फल होजाय, और रोगी रोग मुक्त होते २ प्राण मुक्त ही हो जाय, तो भी परोपकार बुद्धि वाला डाक्टर रोगी की हत्या का अपराधी नहीं हो सकता।

किन्तु एक चिकित्सा विषय का अनभिज्ञ मनुष्य यदि किसी रोगी का उसकी इच्छानुसार भी उपचार करे, और उससे रोगी को हानि पहुँचे, तो वह अनाडी ऊंट वैद्य राज्य नियमानुसार अपराधी ठहर कर दण्डित होता है।

और जो मनुष्य न तो डाक्टर है, न चिकित्सा ही करना जानता है, किन्तु दुष्ट बुद्धि से किसी मनुष्य को मारडाले,

और गिरफ्तार होने पर कहे कि—मैंने तो उसको रोग मुक्त करने के लिए शस्त्र मारा था, तो ऐसी हास्यजनक बात पर न्यायाधीश ध्यान नहीं देते हुए उसे हत्यारा ठहरा कर या तो प्राण दण्ड देगा या कठिन कारावास दण्ड, जो कि उसे भोगना ही पड़ेगा।

हमारे मूर्ति पूजक बंधु पूजा के बहाने बेचारे निरपराध प्राणियों को मार कर उक्त परोपकारी और विश्वासपात्र डाक्टर की श्रेणि में बैठने की इच्छा रखते हैं, यह किस प्रकार उचित हो सकता है ? वास्तव में इनके लिए (डाक्टर-नहीं) किन्तु अन्तिम श्रेणी के खूनी का उदाहरण ही सर्वथा उपयुक्त है। क्योंकि—जो पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि स्थावर और त्रस काया के जीव अपने जीवन में ही आनन्द मानकर मरण दुःख से ही डरते हैं, सभी दीर्घ जीवन की इच्छा करते हैं, ऐसे उन जीवों को उनकी इच्छा के विरुद्ध प्राण हरण करलेने वाले हत्यारे की श्रेणी से कम कभी नहीं हो सकते। रोगी की तरह वे प्राणी इन पूजक बन्धुओं के पास प्रार्थना करने नहीं आते कि महात्मन् हमारा जीवन नष्ट कर हमारे शरीर की बलि आप अपने माने हुए भगवान को चढ़ाइये और हमपर उपकार कर हमें मुक्ति दीजिये। किन्तु पूजक महाशय स्वेच्छा से ही भ्रम में पड़कर उनका हरा भरा जीवन नष्ट कर उन्हें मृत्यु के घाट उतार देते हैं। इसलिये ये डाक्टर की श्रेणी के योग्य नहीं।

इन जीवों को अपने भोग विलास के लिये कष्ट पहुंचाने वाले भोगी लोग संसार में बहुत हैं, लेकिन वे भी इनकी हिंसा करके इसमें उन जीवों का उपकार होना तथा स्वयं

डाक्टर वनना नहीं मानते हैं, किन्तु परोपकारी डाक्टर की पंक्ति में वठने का डोल करने वाले ये पूजक वन्धु तो वल पूर्वक हत्या करते हुए भी अपने को उस हत्यारे की तरह निर्दोष और उससे भी आगे वढ़कर परोपकारी वतलाते हैं, भला यह भी कोई परोपकार है? इसमें परोपकार उनजीवों का हित कैसे हुआ? हा नाश तो अवश्य हुआ।

डाक्टरों को तो चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व प्रमाण पत्र प्राप्त करना पड़ता है, किन्तु हमारे पूजक वन्धु तो स्वतः ही डाक्टर वन जाते हैं, इन्हें किसी प्रमाण पत्र की आवश्यकता ही नहीं, गुरू कृपा से इनके काम विना प्रमाण के भी चल सकता है, किन्तु इन्हें याद रखना चाहिये कि इस प्रकार अज्ञानता पूर्वक धर्म के नाम पर किये जाने वाले व्यर्थ आरंभ का फल अवश्य दुख दायक होगा वहा आपका यह मिथ्या उदाहरण कभी रक्षा नहीं कर सकेगा। अतएव पूजा के लिये होती हुई हिंसा में डाक्टर का उदाहरण एक दम निरर्थक है। यहां तो इसका उल्टा उदाहरण ही ठीक वैठता है।



३५-न्यायाधीश या अन्याय प्रवर्तक



प्रश्न—जिस प्रकार न्यायाधीश नरहत्या करने वाले को राज्य नियमानुसार प्राण दण्ड देता हुआ हत्यारा नहीं हो सकता उसी प्रकार मूर्ति-पूजा में धर्म नियमानुसार होती हुई हिंसा हानि कारक नहीं हो सकती, फिर ऐसी शास्त्र सम्मत पूजा को क्यों उठाई जाती है? यह दृष्टान्त एक मूर्ति-पूजक साधु ने मू० पू० में होती हुई हिंसा से बचने को दिया था।

उत्तर—आपका डाक्टरी से निष्फल होने पर न्यायाधीश के आसन पर बैठने की चेष्टा करना भी निष्फल ही है। यहां भी आपके लिये न्यायाधीश के बजाय अन्याय प्रवर्तक पद ही घटित होता है।

सर्व प्रथम यह तर्क ही असंगत है क्योंकि राज्य नीति से धर्म नीति भिन्न है। राज्य नीति जीवन व्यवहार और सर्व साधारण में शांति की सुव्यवस्था स्थापित कर सांसारिक उन्नति की साधना के लिये द्रव्य क्षेत्रादि की अपेक्षा से

होती है, और धर्म नीति स्वपर कल्याण मोक्षमार्ग के साधनार्थ होती है, राज्यनीति में मनुष्य के सिवाय प्रायः सभी प्राणियों की हत्या का दण्ड विधान नहीं भी होता है। किन्तु धर्म नीति में सूक्ष्म स्थावर की भी हिंसा को पाप बता कर हिंसा कर्त्ता को दण्ड का भागी माना है। यहां तक ही नहीं मन से भी बुरे विचार करना हिंसा में गिना गया है, ऐसी हालत में न्यायाधीश का उदाहरण धार्मिक मामलों में अनुचित है। फिर भी यदि यह बाधा उपस्थित नहीं की जाय तो भी इस दृष्टान्त पर से मूर्ति-पूजक पूजा जन्य हिंसा के अपराध से मुक्त नहीं हो सकते, उल्टे अधिक फंसते हैं।

उक्त उदाहरण में मुख्य तीन पात्र हैं, १ हत्यारा २ जिसकी हत्या की गई हो वो और तीसरा न्यायाधीश। प्रथम पात्र हत्याकारी, जब दूसरे व्यक्ति की हत्या कर डालता है, तब गिरफतार होकर तीसरे पात्र न्यायाधीश के सम्मुख अपराध की जाच और उचित दण्ड के लिये नगर रक्षक की ओर से खड़ा किया जाता है। न्यायाधीश अपराधी का अपराध प्रमाणित होने पर योग्य पंचों से परामर्श कर कानून के अनुसार ही दण्ड देता है। न्यायाधीश इस प्रकार के अपराधों के दण्ड देने के योग्य न्याय शास्त्र का अभ्यासी और अधिकार सम्पन्न होता है इसीसे अपराधी को अपराध की शिक्षा न्यायशास्त्रानुसार प्राण दण्ड तक देता हुआ भी हत्यारा दोषी नहीं हो सकता।

अपराधी के अपराध का दण्ड देने में भी पर हित सार्वजनिक शान्ति की भावना रही हुई है। यदि अपराधी को

उचित दण्ड नहीं दिया जाय तो भविष्य में वह अधिक अ-पराध कर जन साधारण को कष्ट देता होगा। दूसरा अन्य लोग भी जब यह नहीं जानेंगे कि अपराधों का दण्ड नहीं मिलता, तो अधिक उत्पात या अनर्थ करने लगें ऐसी सम्भावना है अतएव परहित दृष्टि से नियमानुसार दण्ड देना भी आवश्यक है।

न्यायाधीश और खूनी का उदाहरण मूर्ति-पूजा की सिद्धि में नहीं किन्तु विरोध में उपयुक्त है, क्योंकि न्यायाधीश का उदाहरण तो अपराधी को सप्रमाण दण्ड देने का सिद्ध करता है। और हमारे मूर्ति पूजक भाई ईश्वर भक्ति के नाम से स्वेच्छानुसार निरपराध जीवों की हत्या करते हैं। क्या हमारे भाई यह बता सकेंगे कि वे पानी, पुष्प, फल, अग्नि आदि के जीवों को किस अपराध पर प्राण दण्ड देते हैं? उन्हें दण्ड देने का अधिकार कब और किससे प्राप्त हुआ है? वे किस धर्मशास्त्रानुसार उनके प्राण लूटते हैं?

यह तो मामला ही उल्टा है, न्यायाधीश का उदाहरण अपराधी को अपराध का दण्ड देना बताता है, और आप करते हैं निरपराधों के प्राणों का संहार!

कोई आततायी मार्ग चलते किसी निर्बल की हत्या करके पकड़े जाने पर कहे कि मैंने तो उसे अपराध का दण्ड दिया है। तब जिस प्रकार उसका यह झूठा कथन अमान्य होकर अन्त में वह दण्डित होता है, उसी प्रकार निरपराध प्राणियों को धर्म के नाम पर मार कर फिर ऊपर से न्यायाधीश बनने का ढोंग करने वाले भी अन्त में अपराधी के कठहरे में खड़े किये जाकर कर्म रूपी न्यायाधीश से अवश्य अपराध का दण्ड पावेंगे।

नरहत्या कर खूनी कहाने वाला किसी दुष्ट बुद्धि से ही हत्या करते हैं, उस हत्या का कोई भी अनुमोदन नहीं करता, किन्तु जो मूर्ति पूजा में केवल धर्म के नामसे सूक्ष्म और स्थूल जीवों की हत्या कर फिर भी उसेअच्छा समझते हैं और सर्व त्यागी महामुनि कहे जाने वाले उस आरम्भ की अनुमोदना करते हैं, अनुमोदना ही नहीं, कहकर करवाते हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है ! यदि इसे सरासर अन्धेर भी कहा जाय तो क्या अतिशयोक्ति है !



३६-क्या ३२मूल सूत्र के बाहर का साहित्य मान्य है?

प्रश्न—आप बत्तीस मूल सूत्र के सिवा अन्य सूत्र ग्रंथ तथा उन सूत्रों की टीका, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य दीपिका आदि को क्यों नहीं मानते? नन्दीसूत्र जो कि ३२ में ही है उसमें अन्य सूत्रों के भी नामोल्लेख है, फिर ऐसे सूत्र को क्या मूर्ति पूजा का अधिकार होने से ही तो आप नहीं मानते हैं।

उत्तर—जो शास्त्र, ग्रंथ, या टीकादि साहित्य वीत-राग प्ररूपित द्वादशांगी वाणी के अनुकूल है वही हमारा मान्य है, हमारी श्रद्धानुसार एकादशांग और अन्य २१ सूत्र ऐसे ३२ सूत्र ही पूर्ण रूप से वीतराग वचनों से अबाधित है इसके सिवाय के साहित्य में बाधक अंश भी प्रविष्ट हो गया है तथा उपस्थित है, अतएव उनको पूर्ण रूप से मानने को हम तय्यार नहीं हैं। ३२ सूत्रों के बाहर भी जो साहित्य है

और उसका जितना अंश आगम आशययुक्त या जिन वचनों को अबाधक है, उसे मानने में हमें कोई हानि नहीं।

हम मूल सूत्र के सिवाय टीका निर्युक्ति आदि को भी मानते हैं, किन्तु वे होने चाहिये मूलास्य युक्त, मूल के बिना या मूल के विपरीत मान्य नहीं हो सकते। वर्तमान में ऐसी पूर्ण अबाधक टीका निर्युक्ति नहीं होती अभी जितनी टीकाएं या निर्युक्ति आदि हैं उनमें कहीं २ तो सर्वथा बिना मूल के ही और कहीं मूल के विपरीत भी प्रयास हुआ पाया जाता है, ऐसी हालत में वर्तमान की टीका निर्युक्ति आदि साहित्य पूर्ण रूप से मान्य नहीं है। हां उचित और अबाधक अंश के लिये हमारा विरोध नहीं है। वर्तमान की टीकाएं प्राचीन नहीं, किन्तु अर्वाचीन हैं। इस विषय में स्वयं विजयानन्दजी सूरि भी जैन तत्वादर्श पृ० ३१२ पर लिखते हैं कि—

'सर्व शास्त्रों की टीका लिखी थी। वो सर्व विच्छेद हो गई'

इसी प्रकार प्राचीन टीका का विच्छेद होना स्वयं टीकाकार भी स्वीकार करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि इस समय जितनी टीकाएं उपलब्ध हैं वे सभी प्राचीन नहीं किन्तु अर्वाचीन है, इसके सिवाय वर्तमान टीकाकार भी प्राय. चैत्यवादी और चैत्यवासी परम्परा के ही थे। तथा टीकाओं में टीकाकार का स्वतन्त्र मंतव्य भी तो होता है। बस चैत्यवाद प्रधान समय में होने से इन टीकाओं में अपने समय के इष्ट भावों का आजाना कोई बड़ी बात नहीं है। कितने ही महाशय ऐसे भी होते हैं जो अपने मंतव्य को जनता से मान्य करवाने के हेतु उसे सर्वमान्य साहित्य में मिला देते हैं, इस

प्रकार भी जैन साहित्य में बिगाड़ा हुआ है। क्योंकि स्वार्थ परता मनुष्य से चाहे सो करा सकती है। भाष्य, वृत्ति, निर्युक्ति आदि में स्वार्थ परताने भी अपना रंग जमाया है। हमारी इस बात को तो श्री विजयानन्द सूरि भी जैन तत्वादर्श हिंदी के पृष्ठ ३५ में लिखते हैं कि—

'अनेक तरह के भाष्य, टीका दीपिका रचकर अर्थों की गड़बड़ कर दीनी सो अबतांइकरते ही चले जाते हैं।

यद्यपि उक्त कथन वेदानुयाइयों पर है, तथापि इस घृणित कार्य से स्वयं जैनतत्वादर्श के कर्त्ता और इनके अन्य मूर्ति-पूजक टीकाकार भी वंचित नहीं रहे हैं, ग्रन्थकारों ने भी अपने मन्तव्य के नूतन नियम आगम याने जिनवाणी के एक दम विपरीत घड़ डाले हैं, सर्व प्रथम मूर्ति पूजक समाज के उक्त विजयानन्द सूरि के जैनतत्वादर्श के ही कुछ अवतरण पाठकों की जानकारी के लिए देता हूं, देखियेः—

(१) 'पत्र, वेल, फूल, प्रमुख की रचना करनी............. शतपत्र, सहस्रपत्र, जाई, केतकी, चम्पकादि विशेष फूलों करी माला, मुकुट, सेहरा, फूलधरादिक की रचना करे, तथा जिनजी के हाथ में बिजोरा, नारियल, सोपारी, नागवल्ली, मोहोर, रुपैया, लड्डू प्रमुख रखना.......... (पृ० ४०५)

(२) प्रथम तो उष्ण प्राशूक जल से स्नान करे, जेकर उष्ण जल न मिले तब वस्त्र से छान करके प्रमाण संयुक्त शीतल जल से स्नान करें। (पृ० ३९९)

(३) मैथुन सेवके तथा वमन करके इन दोनों में कछुक देर पीछे स्नान करे। (पृ० ४००)

(४) देव पूजा के वास्ते गृहस्थ को स्नान करना कहा है, तथा शरीर के चैतन्य सुख के वास्ते भी स्नान है। (पृ० ४००)

(५) सूके हुए फूलों से पूजा न करे, तथा जो फूल धरती में गिरा होवे तथा जिसकी पाखड़ी सड़गई होवे, नीच लोगों का जिसको स्पर्श हुआ होवे, जो शुभ न होवे, जो विकसे हुए न होवें रात को वासी रहे, मकड़ी के जाले वाले, जो देखने में अच्छे न लगे, दुर्गंध वाले, सुगंध रहित, खट्टी गंध वाले · ऐसे फूलों से जिनदेव की पूजा न करणी।
(पृ० ४१३)

(६) मन्दिर में मकड़ी के जाले लगे हों उनके उतारने की विधि बताते हुए लिखते हैं कि—

साधु नोकरों की निर्भ्रंच्छना करें ······ पीछे जयणा से साधु आप दूर करे। (पृ० ४१७)

(७) देव के आगे दीवा वाले देवका चन्दन ···· देव का जल (पृ० ४२६)

(८) संग निकालते समय साथ में लेने का सामान आदि का विधान भी देखिये—

आडम्बर सहित बड़ा चरु, घड़ा, थाल, डेरा, तम्बू, कड़ाहियां साथ लेवे, चलता कूपादिक को सज करे, तथा गाड़ा

सेज वाला, रथ, पर्यंक, पालखी, ऊँट, घोड़ा प्रमुख साथ लेवे, तथा श्रीसंघ की रक्षा वास्ते बड़े योद्धों को नोकर रक्खें योद्धों को कवच अंगकादि उपस्कर देवे, तथा गीत नाटक वाजित्रादि सामग्री मेलवे......... फूल घर कदली घरादि महापूजा करे......... नाना प्रकार की वस्तु फल एक सौ आठ, चौवीस, ब्यासी, वावन, बहत्तरादि ढोवे, सर्व भक्ष भोजन के थाल ढोवे। (पृ० ४७४)

(६) सुन्दर अंगी, पत्र भंगी, सर्वाङ्गाभरण, पुष्पगृह, कदलीगृह, पूतली पाणी के यंत्रादि की रचना करे, तथा नाना गीत नृत्यादि उत्सव से महापूजा रात्रि जागरण करे...... तथा तीर्थ की प्रभावना वास्ते बाजे गाजे प्रौढाडम्बर से गुरु का प्रवेश करावे। (पृ० ४७४)

(१०) श्री संघ की भक्ति में—

'सुगन्धित फूल भक्ति से नारियलादि विविध तांबूल प्रदान रूप भक्ति करे' (पृ० ४७४)

सुज्ञ वन्धुओ ! देखा मूर्ति पूजक आचार्य श्री विजयानन्दजी के धार्मिक प्रवचन—धर्म ग्रन्थ के धार्मिक विधान का नमूना? क्या ऐसा उल्लेख जैन साधु कर सकते हैं ? क्या इसमें से एक बात भी किसी जैनागम से प्रमाणित हो सकती है ? नहीं कदापि नहीं।

फल, फूल, पत्रादि तोड़े, कदली गृह बनावे, स्नान करे, मैथुन सेवन कर स्नान करे, गाड़े, घोड़े सैनिक, शस्त्र, डेरा, तम्बू, चरू, कड़ाही, आदि साथ ले, गीत, नृत्य वाजित्रादि करे फवारे छोड़े, तांबूल प्रदान करे, आदि २ बातों में किस धर्म की प्ररूपणा हुई। इसमें कौनसा आत्महित है। ऐसा प्रत्यक्ष

आश्रव वर्द्धक कथन जैन मुनि तो कदापि नहीं कर सकता। मेरे विचार से उक्त कथन केवल इन्द्रियों के विषय पोषण रूप स्वार्थ से प्रेरित होकर ही किया गया है, सुगन्धित पुष्पों से घ्राणेन्द्रिय के विषय का पोषण होता है, और इसी लिए अरुचि कर खट्टी गंध वाले, सड़े विगड़े ऐसे फूलों का बहिष्कार किया गया है, श्रवणेन्द्रिय के विषय का पोषण करने के लिए वाजित्र युक्त, गान, तान पर्याप्त है, नेत्रों का विषय पोषण, सुन्दर अंगी पत्र अंगी, दीप राशि मनोहर सजाई, यन्त्र से जलका विचित्र प्रकार से छोडना, और नृत्य आदि से होही जाता है, रसेन्द्रिय के विषय पोषण के लिए तो चरु कढ़ाई आदि की सूचना हो ही गई है, इसी से सदोष आहार भी उपादेय माना जा रहा है और भक्तों को तांबूल प्रदान करने का संकेत भी कुछ थोडा महत्त्व नहीं रखता, शारीरिक सुखों की पूर्ति की तो बात ही निराली है, इसीलिए तो "जैन तत्वादर्श पृ० ४६२ में यह भी लिख दिया गया है कि—

११–साधुओं की पगचंपी करे

इस प्रकार सभी कार्य पांचो इन्द्रियों के विषय पोषक है, यदि ऐसे कार्यो के लिए भी ग्रन्थों में विधान नहीं होतो इच्छा पूर्ण किस प्रकार हो सके। धर्म की ओट में सब चल सकता है, नहीं तो व्यापारी समाज अपनी गाढ़ी कमाइ के पैसे को कभी भी ऐसे नुकसानकारी कार्य में खर्च नहीं करे, वणिक लोगों से जाति या धर्म के नाम से ही इच्छित खर्च करवाया जा सकता है। ऐसे ही कार्यों में यह समाज उदार है।

बन्धुओ ? आप केवल विजयानन्दजी के उक्त अवतरण देख कर यह नहीं समझें कि—इनके सिवाय और किसी मूर्ति पूजक

आचार्य ने ऐसा कथन नहीं किया होगा, यदि अन्य आचार्यों के उल्लेखों का उद्धरण भी दिया जाय तो व्यर्थ में निबन्ध का कलेवर अधिक बड़ा हो जाय, इसलिए इस प्रकार के अन्य अवतरण नहीं देकर आपको चौंका देने वाले दो चार अवतरण अन्य आचार्यों के भी देता हूं।

देखिये—

(१२) श्री जिनदत्त सूरिजी विवेक विलास (आवृत्ति ५) में लिखते हैं कि—

"छए रसमां आधार स्वरूप उष्णकांति प्रद, कफ, कृमि, दुर्गंध, अने वायु नो नाश करनार, मुख ने शोभा अर्पनार एवा तांबूल ने जे माणसो खाय छे तेना घरने श्री कृष्णना घरनी पेठे लक्ष्मी छोड़ती नथी" (पृष्ठ ३६)

(१३) अब जरा सावधान होकर स्त्री वशीकरण सम्बन्धी जैनाचार्य का बताया हुआ प्रयोग भी देखिये—

"जे दिशानी पोतानी नासिका वहेती होय ते तरफ कामिनी ने आसन ऊपर अथवा शैय्या ऊपर बेसाड़े छे, आम करवाथी ते उन्मत्त कामिनिओ तत्काल मांज वशीभूत थइ जाय छे"। (पृष्ठ १६०)

(१४) जे दिवसे भारे भोजन न कर्यु होय, तृषा क्षुधादिनी वेदना अंगमां लवलेश पण न होय, स्नानादिक थी परवारी अंगे चन्दन केसर आदि नुं विलेपन कर्यु होय, अने हृदय मां प्रीति तथा स्नेह नी उर्मीओ उछलती होय तोज ते स्त्री ने भोगवी शके छे" (पृष्ठ १६६)

इस विषय में जैनाचार्यजी ने और भी बहुत लिखा है, किन्तु यहां इतना ही पर्याप्त है, अब जरा इनके कलि-काल सर्वज्ञ श्री

हेमचन्द्राचार्यजी का भी वशीकरण मन्त्र देख लीजिए आप योग शास्त्र के पाचवे प्रकाश के २४२ वें श्लोक में बताते हैं कि—

आसने शयने वापि, पूर्णांगे विनिवेशिताः।
वशी भवंति कामिन्यो, न कार्मण मत. परम ॥ २४२

अर्थात्-आसन या शयन के समय पूर्णांग की ओर विठाई हुई स्त्रियें स्वाधीन हो जाती हैं, इसके सिवाय दूसरा कोई कार्मण नहीं।

पाठकों! क्या, ऐसा लेख जैन मुनि का हो सकता है। यदि आपको ऐसी शंका हो तो मेरे निर्देश किये हुए स्थलों पर मिलान करा लीजिए आपको विश्वास होजायगा कि जो कथन काम शास्त्र का होना चाहिए वह जैन शास्त्र में और वह भी जैन के कलिकाल सर्वज्ञ महान् आचार्य कहे जाने वालों के पवित्र कर कमलों से लिखा जाय, यह पानी में आग और अमृत में हलाहल विष के समान है, अब आप ही बतलाइये कि इस प्रकार के धर्म घातक आरम्भ और विषय वर्द्धक पोथों को किस प्रकार धर्म ग्रन्थ माने।

ऐसे ही हमारे मूर्ति पूजक बन्धुओं के कथा ग्रन्थों या अन्य ढालें रास चरित्र और महात्म्य ग्रन्थों को भी आप देखेंगे तो वहा भी आप को मूर्ति पूजा विषयक गपोड़े प्रचुरता से मिलेंगे पर ये हैं सब मन गढ़न्त ही, क्योंकि उभय मान्य और गणधर रचित, सूत्रों में तो इस विषय का संकेत मात्र भी नहीं है। संक्षेप में यहां कुछ गपोड़ों का नमूना भी देखिये—

कुमारपाल राजा के इस विशाल राज्य ऐश्वर्य का कारण निम्न प्रकार बताया है।

नव कोड़ी ने फूलड़े, पाम्यो देश अढार ।
कुमार पाल राजा थयो, वर्त्य जय जयकार ।

अर्थात्—केवल नौ कोड़ी के फूलों से मूर्ति की पूजा करके ही कुमारपाल अठारह देश का राजा हुआ। ऐसा पूर्व जन्म का इतिहास तो विना विशिष्ट ज्ञान के कोई नहीं बता सकता, और अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान का कथाकार के समय में अभाव था, तब ऐसी पूर्व भव की बात और उस पुष्प पूजा का ही अठारह देश पर राज्य का फल कैसे जाना गया? क्या यह मन गढ़न्त गप्प गोला नहीं है। पाठक स्वयं विचारें तो मालुम होगा कि स्वार्थ परता क्या नहीं कराती? और देखिये—

कल्प सूत्र व आवश्यक की कथा है उसमें यह बतलाया है कि-दश पूर्व धर श्रीमद् वज्रस्वामीजी महाराज मूर्ति पूजा के लिए आकाश में उड़कर अन्य देश में गये और वहां से बीस लाख फूल लाकर पूजा करवाई।

पाठक वृन्द! जब श्रीमद्वज्रस्वामी जैसे दशपूर्वधर महान् आचार्य भी मूर्ति पूजा के लिए लाखों फूल अनेक योजन आकाश मार्ग से जाकर लाये और पूजा करवाई तब आजकल के साधु लोग मन्दिर के बगीचे में से ही थोड़े से फूल तोड़कर पूजा करें तो इसमें क्या बुरी बात है? इन्हें भी चाहिए कि प्रातः काल होते ही ये वृक्ष और लताओं पर टूट पड़ें, जितने अधिक फूलों से पूजेंगे उतना अधिक फल होगा, और उतने ही अधिक फूलों के जीवों की इनके मतानुसार दया भी होगी। यदि यह कहा जाय कि-श्री वज्र स्वामी ने उस समय अन्य देशों से पुष्प लाकर शासन की बड़ी भारी प्रभावना की और राजा जैन धर्म

पर के द्वेष को शान्त कर उसे जैन धर्मी बना दिया, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि-जैन धर्म का प्रभाव फूलों या फलों से मूर्ति पूजने में नहीं किन्तु, इसके कल्याणकारी प्राणीमात्र को शान्तिदाता ऐसे विशाल एव उदार सिद्धांत से ही होता है। वज्र स्वामी पूर्वधर और अपने समय के समर्थ प्रभावक आचार्य थे, वे चाहते तो अपने प्रकाण्ड पाडित्य और महान् आत्मवल से धर्म एव जिन शासन की प्रभावना करके जैनत्व की विजय वैजयति फहरा सकते। क्या लाखों फूलों की हिंसा करने म ही धर्म एव शासन की प्रभावना है। क्या श्रीमद्वज्रस्वामीजी में ज्ञान और चारित्र वल नहीं था, जो वे लाखों पुष्पों के प्राण लूट कर असाधुता का कार्य करते।

यदि सत्य कहा जाय तो दशपूर्वधर श्रीमद्वज्राचार्य्य ने साधुता का घातक और आस्रव वर्धक ऐसा कार्य किया ही नहीं, न कल्प सूत्र के मूल में ही यह वात है, किन्तु पीछे से किसी महामना महाशय ने इस प्रकार की चतुराई किसी गुप्त आशय से की है ऐसा मालुम होता है, इस प्रकार समर्थ आचार्यों के नाम लेकर अन्य श्रद्धालुओं से आज तक मनमानी क्रियाए करवाई जा रही है।

इसी प्रकार त्रिपष्ठिशलाका पुरुष चरित्र, जैन रामायण, पाण्डव चरित्र समरादित्य चरित्र आदि ग्रथों की कथाओं में सैंकडों स्थानों पर मूर्ति की कल्पित कथाए गढ़ी गई हैं, श्री हेमचन्द्राचार्य ने महावीर चरित्र में तो यहां तक लिख दिया कि "इन्द्रशर्मा ब्राह्मण ने साक्षात प्रभु की भी सचित्त फूलों से पूजा की थ " जो अनन्त चारित्रवान प्रभु सचित्त पुष्प, वीज आदि का स्पर्श भी नहीं करते उनके लिए ऐसा कहना असत्य नहीं तो क्या है? सूत्रों में अनेक स्थानों पर एक सम्राट से लेकर सामान्य जन समुदाय तक के प्रभु भक्ति का अर्थात् वन्दन

नमन सेवा करने का कथन मिलता है, किन्तु किसी भी स्थान पर किसी अन्य सचित्त या अचित्त पदार्थ से पूजा करने का उल्लेख नाम मात्र भी नहीं है, फिर श्रीमद् हेमचन्द्रजी ने जो कि से १७०० वर्ष पीछे हुए हैं, सचित्त फूलों से पूजने का हाल किस विशिष्ट ज्ञान से जान लिया। खैर।

अब पाठक इनके पहाड़ों की प्रशंसा दर्शक वचनों की भी कुछ हालत देखें-शत्रुंजय पर्वत की महत्ता दिखाते हुए लिखा है कि--

''जं लहइ अन्न तित्थे, उग्गेण तवेण बंभ चरेण।
तं लहइ पयत्तेण सेत्तुंज गिरिम्मि निवसन्तो॥''

अर्थात्—जो फल अन्य तीर्थों में उत्कृष्ट तप और ब्रह्मचर्य से होता है, वही फल उद्यम करके शत्रुंजय में निवास करने से होता है।

बस चाहिये ही क्या? फिर तप ब्रह्मचर्य पालन कर काय कष्ट क्यों किया जाता है? जब भयंकर कष्ट सहन करने का भी फल मात्र शत्रुंजय पर्वत पर निवास करने समान ही हो तो फिर महान् तपश्चर्या कर व्यर्थ शरीर और इन्द्रियों को कष्ट क्यों देना चाहिये? इस विधान से तो साधु होकर संयम पालन करने की भी आवश्यकता नहीं रहती। और देखिये——

जंकोडीए पुन्नं कामिय–आहार भोइ आजेउ।
जं लहइ तत्थ पुन्नं, एगो वासेण सेतुंजे॥

अर्थात्—क्रोड़ों मनुष्यों को भोजन कराने का जितना पुण्य

होता है उतना ही पुण्य शत्रुंजय पर मात्र एक उपवास करने से ही हो जाता है।

हा, है तो बडे मतलब की बात पैसे बचे और लाखों रुपये के खर्च के बराबर पुण्य भी मिल गया, फिर व्यर्थ ही द्रव्य व्यय कर भूखों को अन्नदान देने को आवश्यकता ही क्या है? ऐसा सस्ता सौदा भी नहीं कर सके वैसा मूर्ख कौन है? भाग्य फूटे बेचारे दीन दुखियों के कि जिनके पेट पर यह फल विधान की छुरी फिरी। आगे बढ़िये—

> अट्ठावयं समेए पावा चंपाइ उज्जत नगेय।
>
> वंदित्ता पुन्न फल, सयगुणंतंपि पुंडरिए॥

अर्थात्-अष्टापद जहा श्री ऋषभ देवजी, समेदशिखर जहा बीस तीर्थंकर पावापुरी में श्री महावीर प्रभु चम्पा में श्री वासु पज्यजी गिरनार जहा श्री नेमिनाथजी मोक्ष पधारे इन सभी तीर्थों के वन्दन का जो पुण्य फल होता है उससे भी सो-गुणा अधिक फल पुडरिक गिरि के दर्शन से होता है।

घर और व्यापार के कार्यों को छोड कर दूर दूर के अन्य तीर्थों में भटकने वाले शायद मूर्ख ही है, जो केवल एक वार शत्रुंजय के दर्शन कर अन्य तीर्थों से सोगुणा अधिक लाभ प्राप्त नहीं कर लेते! इस विधान से गुजरात, काठियावाड़, महाराष्ट्र, मालवा, आदि देशों के रहने वाले मूर्ति पूजक भाइयों के लिए तो पूरे पौबारह है, इन्हें अब अपने समय और द्रव्य का विशेष व्यय कर बिलकुल थोडे लाभ के लिए दूर के तीर्थों में जाने की जरूरत नहीं रही, थोड़े समय और द्रव्य खर्च से अपने पास ही के शत्रुंजय पर एक वार जाकर इस विधान के अनुसार महान लाभ प्राप्त कर लेना चाहिये।

व्यापारिक समाज तो सदैव सस्ते सौदे को ही पसन्द करती है। अधिक खर्च कर थोड़ा लाभ प्राप्त करना और थोड़े खर्च से होने वाले अधिक लाभ को छोड़ देना व्यापारियों के लिये तो उचित नहीं है। इसलिए इन्हें अन्य तीर्थों में जाना एक दम बन्द कर देना चाहिए। अब जरा सम्हल कर पढ़िये—

चरण रहियाइ संजय, विमल गिरि गोयमस्स गणिओ।
पडिला भेय मेग साहणो, अड्ढी दीव साहू पडिल भई॥

अर्थात्—चारित्र से रहित (केवल वेषधारी) ऐसे साधु को भी विमल गिरि पर गौतम गणधर के समान समझना चाहिए ऐसे एक साधु को प्रतिलाभने से अढ़ाई द्वीप के सभी साधुओं को प्रतिलाभने का फल होता है।

(ऐसा ही फल विधान श्रावकों के लिये भी है।)

उक्त गाथा से हमारे मूर्ति-पूजक बन्धुओं के लिये अब बिलकुल सरल मार्ग हो गया है, न तो गृहस्थाश्रम छोड़ने की आवश्यकता है, और न मेरु समान कठिन पंच महाव्रत पालना भी आवश्यक है, निरर्थक कष्ट सहन करने की आवश्यकता ही क्या है? जबकि केवल शत्रुंजय पर्वत पर साधु वेष पहन कर कोई भी द्रव्यलिंगी चला आवे तो वह गौतम गणधर जैसा बनजाता है इससे अधिक तब चाहिये ही क्या? और भावुक भक्तों को भी किसी ऐसे द्रव्यलिंगी को बुलाकर शीघ्र ही मिष्टान्न से पात्र भर देना चाहिये, बस होगया बेड़ापार। विश्व भर के सुविहित साधुओं को दान देने का महाफल सहज ही प्राप्त होगया, कहिये कितना सस्ता सौदा है? क्या ऐसा सहज, सुखद, सस्ते से सस्ता और

महान् लाभकारी मार्ग कोई सुविहित बता सकता है ? शायद इसी महान् लाभ के फल विधान को जानकर इससे भी अत्यधिक लाभ प्राप्त करने को पालीताने में सम्पत्तिशाली भक्तों ने रसोड़े भोजनालय खोल रक्खे होंगे ?

इस हिसाब से तो श्रेणिक, कौणिक, कृष्ण, सुभूम और ब्रह्मदत्त आदि महाराजा लोग या तो मूर्ख या मक्खीचूस होंगे, जो ऐसे सस्ते सौदे को भी नहीं पटा सके और तो ठीक पर भगवान महावीर प्रभु का अनन्य भक्त ऐसा सम्राट कौणिक जो प्रभु के सदैव समाचार मंगवाया करता था, और इस कार्य के लिये कुछ सेवक भी रख छोड़े थे, वह एक छोटासा मन्दिर भी नहीं बना सका ? कितना कंजूस होगा ? इसीसे तो उसे नर्क में जाना पड़ा ? यदि वह कम से कम एक भी मंदिर बनवा देता तो उसे नर्क तो नहीं देखनी पड़ती ?

पाठक बन्धुओ ! आश्चर्य की कोई बात नहीं, यह सब लीला स्वार्थ देव की है, यह शक्तिशाली देव अनहोनी को भी कर बताता है। अब ऐसी ही पौराणिक गप्प आपको और दिखाता हूं।

मूर्ति पूजक बन्धु शत्रुंजय पर्वत के समीप की शत्रुंजया नदी के लिये इस प्रकार गाते हैं कि—

केवलियों के स्नान निमित्त, ।
इशान इन्द्र आणी सुपवित्त ॥
नदी शत्रुंजय सोहामणी ।
भरते दीठी कौतुक भणी ॥

अर्थात् केवल ज्ञानियों के स्नान के लिये इशानइन्द्र स्वर्ग से शत्रुंजी नदी लाया, यह देखकर भरतेश्वर को आश्चर्य हुआ।

क्या अब भी कोई गप्प की सीमा है ? हमारे मूर्ति-पूजक बन्धु केवलज्ञानी भाषक सिद्धों को भी स्नान कराकर अपवित्र से पवित्र करना चाहते हैं, सो भी उर्द्धलोक स्वर्ग के जल से ही ! वाह, कहीं केवली भी इस मनुष्य लोक के जल से नहा सकते हैं ? किन्तु इशानेन्द्र ने एक भूल तो अवश्य की, उन्हें यह नहीं सूझा कि इस स्वर्ग-गंगा को मैं मनुष्य लोक में लेजाकर पृथ्वी पर क्यों पटक दूं। इससे तो वह इस लोक की साधारण नदियों जैसी हो गई ? कमसे कम पृथ्वी से दो चार हाथ तो ऊंची अधर रखना था, जिससे स्वर्ग-गंगा का महत्त्व भी बना रहता, शासनप्रभावना भी होती, और आज विचारकों को यह बात गप्प नहीं जान पड़ती। आज के सभी विचारक प्रायः इस बात को चंडुखाने की गप्प से अधिक मानने को तय्यार नहीं है। इसके सिवाय इस स्वर्ग गंगा (शत्रुंजय नदी) ने भी अपना स्वभाव साधारण नदी जैसा बना लिया, विरोधी तो दूर रहे, पर ८-१० वर्ष पहले कुछ भक्तों को भी अपने विशाल पेट में समा लिये। फिर क्योंकर इसे स्वर्ग वासिनी कही जाय ?

हां, जिस परम पुनीत नदी में केवल ज्ञानी भी स्नानकर पवित्र होते हैं, वहां सामान्य साधु स्नान कर कर्म मलरहित होने की चेष्टा करें, इसमें तो कहना ही क्या है ? किन्तु जब हम इन लोगों के सिद्धान्त देखते हैं तब ऐसा मालूम होता है कि यह लोग भी साधुओं को स्नान करना नहीं मानते, किन्तु साधुओं के लिये स्नान का निषेध करते हैं, और स्नान से संयम भंग होना मानते हैं, वे ही ऐसे गपोड़ोंपर विश्वास कर इनको सत्य माने यह कहां का न्याय है ?

बन्धुओं यह तो किंचित् नमूना मात्र ही है किन्तु यदि सारे शत्रुंजय महात्मय को भी गपोड़ा शास्त्र कहा जाये तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

ऐसे गपौड शास्त्रों को किस प्रकार आगम वाणी मानी जाय? इसी लिये इनके बनाये हुए ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं माने जाते, और ऐसे ग्रन्थों को अप्रमाणित घोषित कर देना ही साधुमार्गियों की न्याय परता है।

इसी प्रकार ३२ सूत्र के बाहर जो सूत्र कहे जाते हैं और जिनका नामोल्लेख नन्दी सूत्र में है उनमें भी महामना (?) महाशयों ने अपनी चतुराई लगा कर असलियत बिगाड दी अतएव उनके भी बाधक अश को छोड कर आगम सम्मत अश को हम मान्य करते हैं।

जिस महानिशीथ का नाम नंदी सूत्र मे है उसमें भी बहुत परिवर्तन होगया है ऐसा उल्लेख स्वयं महानिशीथ में भी है, और मूर्ति मडन प्रश्नोत्तर कर्त्ता भी लिखते हैं कि (महानिशीथनो) पाछलनो भाग लोप थई जवाथी जेटलो मली आव्यो तेटलो जिनाज्ञा मुजब लखी दीधु

इस प्रकार शुद्धि और जिर्णोद्धार के नाम से इन लोगों ने इच्छित अंश इन खडित या अखडित सूत्रों में मिला दिया है। अन्य सूत्रों को जाने दीजिये, अगोपाग में भी इन महानुभावों ने अनेक स्थानों पर न्यूनाधिक कर दिया है, और अर्थ का अनर्थ भी। इसके सिवाय भावों को तोड़ मरोड़ने में तो

कमी रक्खी ही नहीं है। अंगोपांगादि के मूल में कल्पित पाठ मिलाने के कुछ प्रमाण देने के पूर्व श्री विजयदान सूरि· जी विषयक जैन तत्वादर्श पृ० ५८५ का निम्न अवतरण दिया जाता है,—

'जिन्होंने एकादशांग सूत्र अनेक वार शुद्ध करे'।

वन्धुओ ? यह बार बार अंग शुद्धि कैसी ? और वह भी श्री धर्मप्राण लोंकाशाह के थोड़े ही वर्षों बाद श्री विजयदान· सूरिजी ने की ! इसमें अवश्य कुछ रहस्य है।

यहां हम इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि इन शुद्धि-कर्ता महोदय ने मूल में पाठान्त आदि के रूप से धूल तो मिला ही दी होगी, क्योंकि शुद्धिकर्ता श्री विजयदान सूरिजी श्रीमान् धर्म प्राण लोंकाशाह के बाद ही हुए हैं। उधर श्रीमान् लोंकाशाह ने आगमोक्त शुद्ध जैनत्व का प्रचार कर मूर्ति पूजा के विरुद्ध बुलंद आवाज उठाई, मूर्ति-पूजा को सर्वज्ञ अभिप्राय रहित घोषित की और शिथिल हुए साधु समुदाय की भी खबर ली, ऐसी हालत में यदि आगमों को असली हालत में ही रहने दिया जाय तब तो मूर्ति-पूजा का अस्तित्व ही खतरे में था, क्योंकि इन्हीं आगमों के बल पर तो लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया था ? इस लिये आगमों में इच्छित परिवर्तन करना विजयदान सूरिजी को सर्व प्रथम आवश्यक मालूम हुआ हो बस करडाली मनमानी ! और इस प्रकार आगमों के नाम से जनता को अपने ही जाल में फंसाये रखने में भी सुभीता ही रहा। आगे की बात छोड दीजिये, अभी इन विजयानन्द सूरिजी ने भी पाठ परि-वर्तन करने में कुछ कमी नहीं रक्खी, 'सम्यक्त्व शल्योद्धार'

हिंदी की चौथी आवृत्ति के पृ० १८६ में श्री आचारांग सूत्र का निम्न पाठ दिया है, देखिये,

(१) 'भिक्खु गामाणुगामं दुइज्जमाणे अन्तरासे नई आगच्छेज्ज एग पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा एवं एहं संतरइ'।

इस प्रकार पाठ लिखकर विशेष में लिखते हैं कि—

'यहा भगवत ने हिंसा करने की आज्ञा क्यों दीनी ?

उक्त मूल पाठ में श्री विजयानन्दजी ने कई शब्दों को उड़ा कर कैसा निकृष्ट कार्य किया है, यह बताने के लिए मूर्ति पूजक समाज के रायधनपतिसिंह बहादुर के सम्वत १९३६ के छपाये हुए आचाराग सूत्र दूसरे श्रुतस्कन्ध पृ० १४८ में का यही पाठ दिया जाता है—

"से भिक्खुवा भिक्खुणिवा गामाणुगाम दूइज्जमाणे अंतरासे जवा स्तारिमे उदएसिया से पुव्वामेव समीसो वारिय पोदय पमज्जेज्जासे पुव्वामेव पमज्जित्ता जाव एग पाद जले किच्चा एग पाद थले किच्चा तओ सजया मेव जंघा सता रिमे उदगे आहारिय रिएज्जा"।

प्रिय पाठक महोदयों ? जरा विजयानन्दजी के दिये हुए पाठ से इस पाठ का मिलान करिये, और फिर हिसाब लगाइये कि—न्यायाभोनिधि, कलिकाल सर्वज्ञ समान कहाने वाले श्री विजयानन्दसूरिजी ने इस छोटे से पाठ में से कितने शब्द चुराये हैं ? एक छोटे से पाठ को इस प्रकार बिगाड़कर उसमें से अनेक शब्दों को उड़ाने वाले साधारण अक्षर या

मात्रादि न्यूनाधिक करने में क्या देर करते होंगे? और एक आवश्यक व अनिवार्य कार्य की यतना पूर्वक करने की विधि को हिंसा करने की आज्ञा बताकर कितना महान् अनर्थ करते हैं ?

जबकि—साधारण मात्रा या अनुस्वार तक को न्यूनाधिक करने वाला अनन्त संसारी कहा जाता है, तब पाठ के पाठ बिगाड़ देने वाले यदि अपनी करणी के फल भोग रहे हों तो आश्चर्य ही क्या है ?

(२) उक्त महात्मा की दूसरी बहादुरी देखिये—सम्यक्त्व शल्योद्धार चतुर्थावृत्ति पृ० १८४ में आचारांग सूत्र का पाठ इस प्रकार दिया है—

'जाणं वा नो जाणं वदेज्जा'

अब रायधनपतिसिंह बहादुर के आचारांग का उक्त पाठ देखिए—

'जाणं वा णो जाणं ति वदेज्जा'

उक्त शुद्ध पाठ को बिगाड़कर मनःकल्पित अर्थ करते हैं। कि—'जानता होवे तो भी कह देवे कि मैं नहीं जानता हूं, अर्थात् मैंने नहीं देखा है" इस प्रकार प्रत्यक्ष मृषावाद बोलने का विधान करते हैं किन्तु इन्हीं के मतानुयायी श्री पार्श्वचन्द्रजी बाबू के आचारांग में भाषानुवाद करते हुए टीकाकार के इस प्रकार झूठ बोलने के अर्थ को असत्य बताकर वहां मौन रहने का अर्थ करते हैं।

(३) उक्त सूरिजी ने उसी सम्यक्त्व शल्योद्धार पृ० १८४ में श्री भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा १ का पाठ इस प्रकार लिखा है—

"मणुसञ्च भोगगरिणया वय मोस जोग परिणया" और इस पाठ का अर्थ करते हैं कि—"मृगपृच्छादिक में मन में तो सत्य है और वचन में मृषा है"।

उपरोक्त पाठ और अर्थ दोनों असत्य है भगवती सूत्र के उक्त स्थल पर इस प्रकार का पाठ है ही नहीं, फिर यह नूतन पाठ और इच्छित अर्थ कहा से लिया गया? यह विजयानन्द जी ही जानें।

(४) उपासकदशांग के आनन्दाधिकार में—'अएण उत्थियं परिग्गहियाणि' के आगे "अरिहंत' शब्द अधिक बढ़ा दिया गया है।

(५) उववाई सूत्र में चम्पा नगरी के वर्णन में—'वहुला अरिहंत चेइयाइं' पाठ बढ़ा दिया; कितने ही मू० पू० विद्वान तो इसे पाठान्तर मानते हैं, और कुछ लोग पाठान्तर मानने से भी इन्कार करते है। अभी थोड़े दिन पहले इन लोगोंकी 'आक्षेप निवारिणी समिति' के ओर से 'जैन सत्य प्रकाश' नामक मासिक पत्र प्रकट हुआ है, उसके प्रारम्भ के तीसरे अङ्क पृ० ७६ में 'जिन मन्दिर' शीर्षक लेख में श्री दर्शनविजयजी, उववाई का पाठ इस प्रकार देते है—

आयारवंत चेइय विविह सन्निविट्ठ वहुला सूत्र १

और अर्थ करते हैं कि—'चम्पा नगरी सुन्दर चैत्यों तथा सुन्दर विविधता वाला सन्निवेशोथी युक्त छे'।

ते चम्पा वर्णनमा पाठान्तर छे के—

अरिहंत चेइय जण-वई-विसण्णि विट्ठ वहुला-सूत्र १

अर्थ—चम्पापुरी अरिहंत चैत्यो, मानवीओ अने मुनिओ ना सन्निवेशो बड़े विशाल छे।

इस प्रकार श्री दर्शनविजयजी ने मूल पाठ और पाठान्तर बताया है, हमारे विचार से तो यह पाठान्तर भी इच्छापूर्वक बनाकर लगाया है।

श्रीमान् दर्शनविजयजी भी मूल पाठ में से एक शब्द खा गये और पाठान्तर का अर्थ भी मनमाना कर दिया। देखिये शुद्ध मूल पाठ—

आयारवन्त चेइय 'जुवइ' विविह सन्निविट्ठ बहुला।

इस छोटे से पाठमें से 'जुवइ' शब्द श्रीमान् दर्शनविजयजी ने क्यों उड़ाया। यह तो वे ही जानें, हमें तो यही विश्वास होता है कि—यह शब्द जानबूझ कर ही उड़ाया गया है क्यों कि इस शब्द का टीकाकारने "युवति वेश्या" अर्थ किया है जो श्री दर्शन विजयजी को चैत्य के साथ होने से कुछ बुरा मालुम दिया होगा। किन्तु इस प्रकार मनमाना फेरफार करना यह तो प्रत्यक्ष में सैद्धान्तिक कमजोरी सिद्ध करता है।

यहां एक यह भी विचारणीय बात है कि—इनके आचार्यों को जब 'आयारवन्त चेइय' शब्द से जिन मन्दिर-मूर्ति अर्थ इष्ट नहीं था तभी तो इन लोगों ने पाठान्तर के बहाने यह नूतन पाठ बढ़ाया है। इस से यह सिद्ध हुआ कि-चैत्य शब्द का अर्थ जिन मन्दिर-मूर्ति नहीं होकर यक्षालय भी है।

(६) ज्ञाताधर्म कथांग में द्रौपदी के सोलहवें अध्ययन में "णमोत्थुणं" आदि पाठ अधिक बढ़ाया हुआ है।

इस प्रकार साहसिक महानुभावों ने अपने मत की सिद्धि के लिए मूल में धूल मिलाकर जनता को बड़े भ्रम में डाल दिया है।

मूल सूत्र के नाम से जो गप्पें उड़ाई गई है अब उनके भी कुछ नमूने दिखाये जाते हैं। लीजिये—

(१) सम्यक्त्वशल्योद्धार पृ० ६ के नोट में उत्तराध्ययन सूत्र का नाम लेकर एक गाथा लिखी है वो इस प्रकार है—

तीए वि तासि साहूणीणं समीवे गहिया दिक्खाकय सुव्वय-नामा तव संजम कुणमाणी विहरइ।

बन्धुओ! उत्तराध्ययन के ६वें अध्ययन की कुल ६२ गाथाएं हैं, किन्तु इन सभी काव्यों में उक्त काव्य का पता ही नहीं, फिर उत्तराध्ययन सूत्र के नाम से गप्प क्यों उड़ाई गई?

(२) मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर पृ० २३७ में सूत्र कृताग श्रुत-स्कन्ध २ अध्ययन ६ का नाम लेकर आर्द्रकुमार के सम्बन्ध में लिखते हैं कि सूत्र मा तो 'प्रथम जिन पडिमा' एम स्पष्ट प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ देव स्वामी नी प्रतिमानो पाठ छे"।

यह भी एक पूर्ण रूप से गप्प ही है मूल सूत्र में यह बात है ही नहीं।

(३) पुन. उक्त ग्रन्थकार पृ० २११ में एक गाथा की दुर्दशा इस प्रकार करते हैं—

आरम्भे नत्थी दया, विना आरम्भ न होइ महापुन्नो।
पुन्ने न कम्म निज्जरे रान कुम्म निज्जरे नत्थी मुक्खी॥

अर्थात्—आरम्भ में दया नहीं, विना आरम्भ के महापुण्य नहीं होता, पुण्य से कर्म की निर्जरा होती है, निर्जरा विना मोक्ष नहीं मिल सकता।

अब उक्त गाथा इन्हीं के मतानुयायी श्रावक भीमसी माणेक के छपवाये हुए 'पर्युषण पर्वनी कथाओ' नामक ग्रन्थ के पृ० ५३ में इस प्रकार है—

आरम्भे नत्थी दया, महिला संगेण नासए बंभ।
संकाए सम्मतं.........पवज्जा अत्थगहणेणं ॥

यद्यपि इस शुद्ध पाठ में भी अशुद्धि है किन्तु इससे यह तो सिद्ध हो गया कि मूर्ति मण्डन कारने न जाने किस अभिप्राय से इस गाथा के तीन चरण तोड़ कर उनकी जगह नये पद बिठा दिये हैं।

ये तो इनके मिथ्या प्रयासों के कुछ नमूने मात्र हैं। अब थोड़ा सा अर्थ का अनर्थ करने के भी कुछ प्रमाण देखिये—

(१) आवश्यक सूत्र के लोगस्स के पाठ में आये हुए "महिया" शब्द का अर्थ फूलों से पूजा करने का लिखकर अनर्थ ही किया है।

(२) निशीथ, बृहद्कल्प, व्यवहार, कल्पसूत्र आदि में आये हुए "विहार भूमिवा" शब्द का अर्थ स्थंडिल भूमि होता है, किन्तु इससे विरुद्ध "जिन मन्दिर" अर्थ कर इन्होंने यह भी एक अनर्थ किया है।

(३) सूत्रों में "जाएअ" शब्द आया है जिसका अर्थ "याग यज्ञ" होता है, जैन सिद्धांतों को भाव यज्ञ ही मान्य है, द्रव्य नहीं, प्रश्न व्याकरण में दया को यज्ञ कहा है, तथा भगवती सूत्र श० १८ उद्देशा २० में सोमिल ब्राह्मण के प्रश्नों के उत्तर में प्रभु ने क्रोधादि के नाश को यज्ञ कहा है इसी प्रकार ज्ञाता धर्म कथांग अ० ४ में इन्द्रिय नो इन्द्रिय यज्ञ बताया है, इन सभी का भाव आत्मोत्थान रूप क्रियाओं भाव यज्ञ-से ही

है, इस प्रकार जैन धर्म को मान्य ऐसे भाव यज्ञ की स्पष्ट व्याख्या होते हुए भी मूर्ति पूजक ग्रन्थकारों ने कल्प सूत्र में इसका " जिन प्रतिमा " अर्थ कर दिया, यदि यह शब्द किसी स्थानक में द्रव्य यज्ञ को बतलाने वाला होतो भी वहां " मूर्ति " अर्थ तो किसी भी तरह नहीं हो सकता, ऐसे स्थान पर भी " हवन " अर्थ ही उपयुक्त हो सकता है, अतएव यह भी अर्थ का अनर्थ ही है।

(४) यज्ञ की तरह ये लोग " यात्रा " शब्द का अर्थ भी पहाड़ों में भटकना बतलाते हैं किन्तु जैन मान्यता में यात्रा शब्द का अर्थ ज्ञानादि चतुष्टय की आराधना करना बताया है, जिसके लिए भगवती, ज्ञाता, स्पष्ट साक्षी है। अतएव यात्रा शब्द का अर्थ भी पहाड़ों में भटकना जैन मान्यता और आत्म कल्याण के लिए अनर्थ ही है।

(५) व्यवहार सूत्र में सिद्ध भगवान की वैयावृत्य करने का कहा है, जिस का अर्थ मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तरकार पृ० १५० में निम्न प्रकार से करते हैं,

" सिद्ध भगवान् नी वैयावच्च ते तेमनु मन्दिर बधावी, मूर्ति स्थापन करी वस्त्राभूषण, गंध पुष्प, धूप, दीपेकरी अष्ट प्रकारी, सत्तर प्रकारी पूजा करे तेने कहे छे"।

इस प्रकार मन माना अर्थ बनाकर केवल अनर्थ ही किया है।

(६) श्री आत्मारामजी ने हिंदी सम्यक्त्वशल्योद्धार में भगवती सूत्र श० ३ उ० ५ का पाठ लिखकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि—"संघ के कार्य के लिए लब्धि फोड़ने में प्रायश्चित नहीं " किन्तु इस विषय में जो मूल पाठ दिया

गया है उसका यह अर्थ नहीं हो सकता, यहां तो भवितात्मा अनगार की शक्ति का वर्णन है, जिसमें श्रीगौतमस्वामीजी के प्रश्न करने पर प्रभु ने फरमाया कि—

"भावितात्मा अनगार स्त्री रूप बना सकते हैं, स्त्री रूप से सारा जंबूद्वीप भर सकते हैं, पताका, जनेऊ धारण कर, तलवार, ढाल (या तलवार का म्यान) हाथ में लेकर आकाश में उड़ सकते हैं। घोड़े का रूप बना सकते हैं। इत्यादि इसके बाद यह बताया है कि—आत्मार्थी मुनि ऐसा नहीं करते और करेंगे वे "मायावी" कहे जावेंगे, उन्हें प्रायश्चित लेना पड़ेगा बिना प्रायश्चित के वे विराधक—आज्ञाबहार होंगे।

इस प्रकार के कथन से श्री विजयानन्दजी लब्धि फोड़ने की सिद्धि किस प्रकार कर सकते हैं? यहां तो लब्धि फोड़ने वाले को विराधक और मायावी कहा है फिर यह अन्याय क्यों? और बिना किसी आधार के ही "संघका काम पड़े तो लब्धि फोड़े" ऐसा क्यों कहा गया?

क्या साधु स्त्री रूप बना कर या घोड़ा बनकर या तलवार लेकर संघ की भक्ति या रक्षा करे? यह माया चारिता नहीं है क्या? स्त्री रूप से संघ सेवा किस प्रकार हो सकती है? आदि प्रश्नों का यहां समाधान अत्यावश्यक हो जाता है। वास्तव में सूत्र में ऐसे कामों से शासन सेवा नहीं पर शासन विरोध और मायाचारीपन कहा गया है अतएव यह भी अनर्थ ही है।

(७) मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर पृ० २७८ में ठाणांग सू आये हुए "श्रावक" शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

"ठाणांग सूत्र मां श्रावक शब्द नो अर्थ कर्यो छे त्यां (१) जिन प्रतिमा (२) जिन मन्दिर (३) शास्त्र (४) साधु (५)

साध्वी (६) श्रावक (७) श्राविका ए सात क्षेत्रे धन खर्च
वानों हुकम फरमाव्यो छे"।

इस प्रकार श्रावक शब्द का मन कल्पित ही अर्थ किया गया है। जब कि—सूत्रों में स्पष्ट श्रावक के कर्त्तव्य बताये गये हैं उन सब की उपेक्षा कर मनमाना अर्थ करना साफ अनर्थ है।

(८) इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के पाठ का अर्थ करते हुए मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर पृ० २७८ में लिखा है कि-

"उत्तराध्ययनना २८ मां अध्ययन मां कह्या मुजब सम्यक्त्व ना आठ आचार सेवन कर्या छे तेमा सात क्षेत्र पण आवी गया, कारण के ते आचारों मा स्वधर्मी वात्सल्य तथा प्रभावना ए बे आचार कह्या छे, तो स्वधर्मी वात्सल्य मा साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, ए चार क्षेत्र जाणवा, ने प्रभावना मां जिन बिंब, जिन मन्दिर तथा शास्त्र, ए त्रण आवी गया, एम आणन्द कामदेवादि तथा परदेशी राजाए पण करेल छे"।

इस प्रकार मन्दिर मूर्ति सिद्ध करने के लिए अर्थ का अनर्थ किया गया है।

(९) श्री भवगती सूत्र का नाम लेकर मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर पृ० २८७ में जो अनर्थ किया गया है वह भी जरा देख लीजिए——

"स्थावर तीर्थ ते शेत्रुंजय, गिरनार, नन्दीश्वर, अष्टापद, आबू, सम्मेतशिखर, वगेरे छे, तेनी जात्रा जघाचारण, विद्याचारण मुनिवरो पण करे छे, एम श्री भगवती सत्र मां फरमाव्यु छे"।

यह भी अनर्थ पूर्वक गप्प ही है।

(१०) प्रश्न व्याकरण के प्रथम आस्रव द्वार में हिंसा के कथन में देवालय, चैत्यादि के लिए हिंसा करने वाले को मन्द

बुद्धि और नर्क गमन करने वाले बताये हैं, वहां उक्त मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तरकार अपना बचाव करने के लिए उन देवालयों को म्लेच्छों, मच्छी मारों, यवनों आदि के बताते हैं, और इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रश्न व्याकरण का एक पाठ भी निम्न प्रकार से पेश करते हैं—

"कयरे जे तेलो परिया मच्छवं धासा उणिया जाव कूर कम्मकारी इमेव बहवे मिलेख जाति किते सव्वे जवणा"। (पृ० २८२)

उक्त पाठ भी स्वेच्छा से घटा बढ़ा कर दिया गया है, इस प्रकार का पाठ कोई प्रश्नव्याकरण में नहीं है और न यह मन्दिर मूर्ति से ही सम्बन्ध रखता है, इस प्रकार मन माना अंश इधर उधर से लेकर मिला देना सरासर अनर्थ है।

(११) श्री विजयानन्द सूरिजी "जैनतत्वादर्श" पृ० २३१ में लिखते हैं कि—

"श्रावकों जिनमन्दिर बनाने से, जिन पूजा करने से सधर्मिवत्सल करने से, तीर्थयात्रा जाने सें, रथोत्सव, अठाई उत्सव, प्रतिष्ठा, अरु अंजन शलाका करने सें, तथा भगवान के सन्मुख जाने से, गुरु के सन्मुख जाने से, इत्यादि कर्त्तव्य से, जो हिंसा होवे सो सर्व द्रव्य हिंसा है, परन्तु भाव हिंसा नहीं, इसका फल अल्प पाप अरु बहुत निर्जरा है, यह भगवती सूत्र में लिखा है, यह हिंसा साधु आदि करते हैं"।

इस प्रकार श्री विजयानन्दसूरि ने एकदम मिथ्या ही गप्प मारदी है, भगवती सूत्र में उक्त प्रकार से कहीं भी नहीं लिखा है, हां, शायद सूरिजी ने अपनी कोई स्वतंत्र प्राइवेट भगवती बनाली हो, और उसमें ऐसा लिखकर फिर दूसरों को इस प्रकार बताते रहे हों तो यह दूसरी बात है ?

इस प्रकार मन्दिर व मूर्ति के लिए जिन के सूरिवर्य भी अर्थ के अनर्थ और मिथ्या गप्पे लगाते रहें, वहा सत्य शोधन की तो बात ही कहा रहती है ? इस प्रकार अनेक स्थलों पर मनमानी की गई है, यदि कोई इस विषय की खोज करने को बैठे तो सहज में एक वृहत ग्रन्थ बन सकता है। अतएव इस विषय को यहीं पूर्ण कर इनकी टीका नियुक्ति आदि की विपरीतता के भी कुछ प्रमाण दिखाये जाते हैं—

टीका, भाष्यादि में विपरीतता कर देने के दुःख से दुखित हो स्वय विजयानन्दसूरिजी जैन तत्वादर्श पृ० ३५ में लिखते हैं कि—

"अनेक तरह के भाष्य, टीका, दीपिका, रचकर अर्थों की गड़बड़ कर दीनी सो अब ताई करते ही चले जाते हैं"।

यद्यपि श्री विजयानन्दजी का उक्त आक्षेप वेदानुयायिओं पर है किन्तु यही दशा इन मूर्ति पूजक आचार्यो से रचित टीका नियुक्ति भाष्य आदि का भी है, उनमें भी कर्त्ताओं ने अपनी करतूत चलाने में कसर नहीं रक्खी है, जबकि स्वय विजयानन्दजी ने मूल में प्रक्षेप करते कुछ भी सकोच नहीं किया, और कई स्थानों पर अर्थों के अनर्थ कर दिये जिनके कुछ प्रमाण पहले दिये जा चुके हैं, तब टीका भाष्यादि में गड़बडी करने में तो भय ही कौनसा है ? जैसी चाहें वैसी व्याख्या करदें। श्री विजयानन्दजी का पूर्वोक्त कथन पूर्ण रूपेण इनकी समाज पर चरितार्थ होता है।

श्री विजयानन्दसूरि जैन तत्वादर्श पृ० ३१२ पर लिखते हैं कि—

"प्रभावक चरित्र में लिखा है कि—सर्व शास्त्रों की टीका लिखी थी वो सर्व विच्छेद होगई"।

उक्त कथन पर से यह तो सिद्ध हो गया कि—प्राचीन टीकाएं जो थी वो विच्छेद—नष्ट—हो चुकी, और अब जो भी टीकाएं आदि हैं वे प्रायः नूतन टीकाकारों के मत पक्ष में रंगी हुई हैं, और अनेक स्थलों पर मूलाशय विरुद्ध मनमानी व्याख्या भी की गई है, इन मन्दिर मूर्तियों के लिये ही कितनी मनमानी की गई है, इसके कुछ नमूने देखिये—

(१) आचारांग की निर्युक्ति में तीर्थ यात्रा करने का विना मूल के लिख दिया है।

(२) सूत्र कृतांग, उपासकदशांग आदि की टीका में भी वृत्तिकारों ने मूर्ति पूजा के रंग में रंग कर सर्वज्ञ नहीं होते हुए भी सैंकड़ों ही नहीं हजारों वर्ष पहले की बात सर्वज्ञ कथित आगमों से भी अधिक टीकाओं में लिख डाली।

(३) कल्पसूत्र के मूल में साधुओं के चातुर्मास करने योग्य क्षेत्र में १३ तेरह प्रकार की सुविधा देखने की गणना की गई है, उनमें मंदिर का नाम तक भी नहीं है, किन्तु टीकाकार महोदय ने मूल से बढ़कर चौदहवां जिन मंदिर की सुविधा का वचन भी लिख मारा है।

(४) आवश्यक निर्युक्ति में भरतेश्वर चक्रवर्ती ने अष्टापद पर श्री ऋषभदेव स्वामी और भविष्य के अन्य २३ तीर्थंकरों के मंदिर मूर्ति बनवाये ऐसा वचन बिना ही मूल के लिख डाला है।

(५) उत्तराध्ययन की निर्युक्ति में श्री गौतम स्वामी ने साक्षात् प्रभु को छोड़कर अष्टापद पहाड़ पर सूर्य किरण पकड़ कर चढ़े, ऐसा बिना किसी मूलाधार के ही लिख दिया है।

(६) आवश्यक निर्युक्तिकार ने श्रावकों के मंदिर बनवाने पूजा करने आदि विषय में जो अडंगे लगाये हैं, ये सब बिना मूल के ही झाड पैदा करने बराबर है।

इस विषय में और भी बहुत लिखा जा सकता है किन्तु ग्रंथ बढ़ जाने के भय से अधिक नहीं लिख कर केवल मूर्ति पूजक समाज के विद्वान पं० बेचरदासजी दोशी रचित जैन साहित्य मा विकार थवाथी थयेली हानि नामक पुस्तक के पृ० १०३ का अवतरण दिया जाता है, पंडितजी इन टीकाकारों के विषय में क्या लिखते हैं, जरा ध्यान पूर्वक उनके हृदयोद्गारों को पढ़िये।

"मारुं मानवु छेके कोई पण टीकाकारे मूलना आशय ने मूलना समय ना वातावरण नेज ध्यानमा लईने स्पष्ट करवो जोइए, आ रीते टीकाकरनारो होय तेज खरो टीकाकार होइ शके छे, परन्तु मूल नो अर्थ करती वखते मौलिक समय ना वातावरण नो ख्याल न करता जो आपणी परिस्थिति ने ज अनुसरिए तो ते मूलनी टीका नथी पण मूलनो मूसल करवा जेवुं छे, हुं सूत्रोनी टीकाओ सारी रीते जोई गयो छु, परन्तु तेमा मने घणे ठेकाणे मूलनु मूसल करवा जेवुं लाग्यु छे, अने तेथी मने घणुं दुःख थयु छे, आ सवधे अहिं विशेष लखवुं अप्रस्तुत छे, तो पण समय आव्ये सूत्रों अने टीकाओ ए विषे हुं विगतवार हेवाल आपवानुं मारूं कर्तव्य चूकीश नहिं

तो पण आगल जणावेला श्री शीलांक सूरिए करेला आचा॰ रांग ना केटलाक पाठोना अवला अर्थो उपरथी अने चैत्य शब्द ना अर्थ उपर थी आप सौ कांई जोई शक्या हशोके टीकाकारो ए अर्थो करवा मां पोताना समयनेज सामो राखी केटलुं बधुं जोखम खेडयुं छे। हुं आ बाबत ने पण स्वीकार करूं छुं के जो महेरबान टीकाकार महाशयोए जो मूल नो अर्थ मूल नो समय प्रमाणेज कर्यो होत तो जैन शाशन मां वर्तमान मां जे मतमतांतरो जोवा मां आवे छे ते घणा ओछा होत, अने धर्म ने नामे आवुं अमासनुं अंधारुं घणुं ओछुं व्यापत"

आगे पृ० १३१ में लिखते हैं कि—

जे वात अंगो ना मूल पाठो मां नथी ते वात तेना उपांगोमां, निर्युक्तिओमा, भाष्योमां, चूर्णिओ मां, अवचूर्णिओ मां, अने टीकाओ मां शीरीते होइ शके?

इस प्रकार जब मूल की टीकाओं की यह हालत है तब स्वतन्त्र ग्रन्थों की तो बात ही क्या? इन बंधुओं ने मूर्ति-पूजा को शास्त्रोक्त सिद्ध करने के लिये कितने ही नूतन ग्रन्थ बना डाले हैं। पहाड़ पर्वतों की महिमा भी खूब भर पेट कर डाली है, अन्य को शिक्षा देने में कुशल ऐसे श्री विजयानन्दजी ने स्वयं 'अज्ञानतिमिर भास्कर' नामक ग्रन्थ के पृ० १८ में 'तीर्थो का महात्म्य सो टंकसाल है' शीर्षक से स्पष्ट लिखते हैं कि—

"नदी, गाम, तालाब, पर्वत, भूमि इत्यादिक जो वेदों में नहीं हैं तिनके महात्म्य लिखने लगे तिनकी कथा जैसी २

पुरानी होती गई तैसी २ प्रमाणिक होती गई, और फल भी देने लगी 'यह टंकसाल अब भी जारी है'।

श्री विजयानन्द सूरि के उक्त शब्द शत्रुजय गिरनारआदि पहाडों के विषय में भी अक्षरश: लागू होते हैं, क्योंकि इनके महात्म्यआदि के ग्रन्थ कथाएं तथा मान्यता सभी आगम विरुद्ध होने से मन कल्पित पाखण्ड और अन्ध विश्वास से ओत प्रोत है, और साथ ही स्वार्थी के स्वार्थ साधन का सुलभमार्ग भी।

इसके सिवाय इन लोगों ने स्वार्थ और मान्यता में कुठाराघात होने के भय से एक नया मार्ग और भी निकाला है वो यह है कि जिस ग्रंथ से अपने माने हुए पंथ को बाधा पहुंचती हो, उसके अस्तित्व एवं मान्यता से भी इन्कार कर देना, जैसे कि—

गत वर्ष (वि० सं० १९९२) लघु शतावधानी मु० श्रीमान सौभाग्यचन्द्रजी (संतबालजी) की जैन प्रकाश' पत्र में 'धर्म प्राण लोंकाशाह' नामक ऐतिहासिक व भाव पूर्ण लेख माला प्रकाशित हुई, उसमें लेखक ने मूर्ति-पूजा यह धर्म का अंग नहीं है इसकी सिद्धि करने को श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी रचित व्यवहार सूत्र की चूलिका के पांचवें स्वप्न फल का प्रमाण दिया, जिसके प्रकट होते ही मूर्ति पूजकों के गुरू पं० न्यायविजयजी महाराज एक दम आपे से बहार होगये। और भावनगर से मूर्ति पूजक पत्र 'जैन' में हिम्मत और बहादुरी पूर्वक उन्होंने इस प्रकार छपवाया कि—

'श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी कृत व्यवहार सूत्र चूलिका छेज नहिं ... ...ए तो संतवाल रचित छे.... .....बिलकुल जाली तथा नवीन सूत्र छे...... कल्पित छे.........आदि।

यद्यपि इन महात्मा का उक्त कथन एकान्त मिथ्या है, तथापि इन की दुरदर्शिता का पूर्ण परिचायक यदि ये ऐसा नहीं करे तो कथित मूर्ति-पूजा की कल्पितता स्पष्ट होकर इनकी जमी हुई जड़ खोखली होजाय इसके सिवाय (उक्त ग्रन्थ को कल्पित कहे सिवाय) इनके पास अपने बचाव का दूसरा मार्ग भी तो नहीं है।

अब यह लेखक न्याय का गला घोंटने वाले इन न्याय विजयजी के उक्त लेख को मिथ्या सिद्ध करने के लिये इन्हीं के मतानुयायी और हमारे पूर्व परिचित मूर्ति-मंडन प्रश्नोत्तरकार के निम्न लिखित प्रमाण देना है, कि जिन्हें देखकर श्री न्यायविजयजी को व्यवहार सूत्र की चूलिका श्री भद्रबाहु स्वामी रचित है ऐसा सत्य स्वीकार ने की सूझे। और जनता इनके असत्य कथन पर विश्वास नहीं कर प्रमाण युक्त सत्यबात को स्वीकार करें, देखिये, मूर्ति मंडन प्रश्नोत्तर—

(१) श्री भद्रबाहु स्वामीए पण श्री व्यवहार चूलिका मां अविधिनो निषेध करी विधिनो आदर कर्यो छे।

(पृ० २६३)

(२) श्री भद्रबाहु स्वामी वली व्यवहार सूत्र नी चूलिका मां चोथा स्वप्न ना अर्थ मां कहे छे के .... (पृ० २६४)

(३) श्री भद्रबाहु स्वामीए व्यवहार सूत्र नी चूलिका मां द्रव्य लिंगी चैत्य स्थापन करवा लगी जशे त्यां मूर्ति स्थापना नो अर्थ कर्यो छे, (पृ० २८६

(४) श्री वल्लभविजयजी गप्प मालिका में लिखते हैं कि श्री भद्रबाहु स्वामी ने व्यवहार सूत्र की चूलिका में विधि पूर्वक प्रतिष्ठा करने का कहा है।

इन प्रमाणों पर पाठक विचार करें, इनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि व्यवहार सूत्र की चूलिका श्री भद्रबाहु स्वामी रचित है, इसे अस्वीकार कर श्री संतबाल रचित, कल्पित तथा जाली कहने वाले स्वयं जालबाज और अविश्वास के पात्र ठहरते हैं। इस प्रकार एक सत्य वस्तु को असत्य कहकर तो श्री न्यायविजयजी ने न्याय का खून ही किया है।

ऐसी अनेक करतूतें मात्र अपने मन कल्पित मत को जनता के गले मढ़ने के लिये की जाती है, इसलिये तत्वगवेषी महानुभावों को इनसे सदैव सावधान रहना चाहिये।

अब यह सेवक तत्वेच्छुक महानुभावों से निवेदन करता है कि वे स्वय निर्णय कर, सत्य का स्वीकार करते हुए स्वपर कल्याणकर्ता बनें।

मू० पू० प्रमाणों से मूर्ति-पूजा की अनुपादेयता

यह तो मैं पहले ही बता चुका हूं कि मूल अंगोपांगादि ३२ सूत्रों में कहीं भी मूर्ति पूजा करने, मन्दिर बनवाने, पहाड़ों में भटकने आदि की आज्ञा नहीं है, और न किसी साधु या श्रावक ने ही वैसा किया हो ऐसा उल्लेख ही मिलता है। सूत्रों में जहां २ श्रावकों का वर्णन आया है वहां २ उनके प्रभु वन्दन धर्मश्रवण, व्रताचरण, व्रतपालन, कष्ट सहन आदि का कथन तो है। किन्तु मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में तो एक अक्षर भी

नहीं है। कोणिक राजा प्रभु का परम भक्त था. सदैव प्रभु के समाचार मंगवाया करता था। सम्वाद प्राप्त करने को उसने कितने ही नौकर रख छोड़े थे। जो कि प्रभु के विहारादि के समाचार हमेशा पहुंचाया करें ऐसा औपपातिक सूत्र में कथन है, किन्तु ऐसे स्थान पर भी यह नहीं लिखा कि कोणिक महाराज ने एक छोटासा भी मन्दिर बनाया हो, या मूर्ति के दर्शन पूजन करता हो, इस पर से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मूर्ति-पूजा शास्त्रोक्त नहीं है।

हमारे इतने प्रयास से मूर्ति-पूजा अनावश्यक और वीतराग धर्म के विरुद्ध प्रमाणित हो चुकी, तथापि अब मू० पू० की हेयता दिखाने को मूर्ति-पूजक समाज के मान्य ग्रन्थों के ही कुछ प्रमाण देकर यह अनावश्यक सिद्ध की जाती है।

(१) सब प्रथम श्री विजयानन्द सूरिजी के निम्न प्रश्नोत्तर को ध्यान पूर्वक पढिये।

प्रश्न—तुमने कहा है जो सूत्र में कथन करा है सो प्ररूपण करे, जो पुनः सूत्र में नहीं है और विवादास्पद लोगों में है। कोई कैसे कहता है और कोई किस तरह कहता है, तिस विषयक जो कोई पूछे तब गीतार्थ को क्या करना उचित है?

उत्तर—जो वस्तु अनुष्ठान सूत्र में नहिं कथन करा है, करने योग्य चैत्य वन्दन आवश्यकादि वत् और प्राणातिपात की तरह सूत्र में निषेध भी नहीं करा है, और लोगों

में चिरकाल से रूढि रूप चला आता है, सो भी संसार भीरु गीतार्थ स्वमति कल्पित दूपणे करी दूपित न करे'।

(अज्ञान तिमिर भास्कर पृ० २६४)

इस उत्तर में यह स्पष्ट कहा गया है कि—चैत्यवंदन सूत्र में नहीं कहा है, पुन. स्पष्टीकरण देखिए—

"कितनीक क्रिया को जे आगम में नहिं कथन करी है तिनको करते हैं, और जे आगम ने निपेध नहीं करी है—चिरतन जनों ने आचरण करी है तिनको अविधि कह करके निपेध करते हैं, और कहते हैं यह क्रियाओ धर्मी जना को करणे योग्य नहीं है, किन किन क्रियायों विपे "चैत्य कृत्येपु-स्नात्रविम्ब प्रतिमाकरणादि,' तिन विपे पूर्व पुरुषों का पर-परा करके जो विधि चली आती है तिसको अविधि कहते हैं"।

(अज्ञान तिमिर भास्कर पृ० २९६)

श्री विजयानन्दसूरि के उक्त कथन से यह स्पष्ट होगया कि—चैत्य कराना, स्नात्र पूजा, विम्ब प्रतिमा स्थापना आदि कृत्य सूत्रों मे नहीं कहे, किन्तु केवल पूर्वजों से चली आती हुई रीति है।

(२) संघपट्टक कार श्री जिन वल्लभसूरि क्या कहते हैं देखिये—

"आकृष्टं मुग्ध-मीनान् वडिशपि शितवद् विंवमादर्श्य जैनं। तन्नाम्ना रम्यरूपा-नयवर-कमठान् स्वेष्ट-सिद्धयै विधा-प्य। यात्रा स्नात्राद्युपायैर्नमसितक निशा जागराद्यं श्छलैश्च। श्रद्धालुर्नाम जैनैश्छलित इव शठैर्वञ्च्यते हा जनोऽयम् ॥२१॥

अर्थात्—जिस प्रकार रसनेन्द्रिय में मुग्ध मछलियों को फंसाने के लिए वधिक लोग मांस को कांटे में लगाते हैं, उसी प्रकार द्रव्य लिंगी लोग मांसवत् ऐसे जिन बिम्ब को दिखाकर, तथा स्वर्गादि इष्ट सिद्धि कहकर, यात्रा स्नात्रादि उपायों से, निशा जागरणादि छलों से यह श्रद्धालु भक्त, धूर्त की तरह नामधारी जैनों से ठगे जाते हैं यह दुःख की बात है।

यह एक मू० पू० आचार्य के दुःखद हृदय के उद्गार रूप संघपट्टक का २१वां काव्य मूर्ति पूजा के पाखण्ड और स्वार्थ पिपासुओं की स्वार्थपरता को खुल्ला करने में पर्याप्त है, वास्तव में मूर्ति पूजा की ओट से मतलबी लोगों ने जन साधारण को खूब धोखा दिया है, अतएव मुमुक्षुओं को इससे सर्वथा दूर ही रहना चाहिये।

(३) स्वयं विजयानन्दसूरि मूर्ति पूजा को धर्म का अंग नहीं मानकर लौकिक पद्धति ही मानते हैं, देखिये जैनतत्वादर्श पृ० ४१८—

"विघ्न उपशांत करणे वाली अङ्ग पूजा है, तथा मोटा अभ्युदय पुण्य की साधने वाली अग्र पूजा है, तथा 'मोक्ष की दाता भाव पूजा है"।

इसमें केवल भाव पूजा को ही मोक्ष दाता मानी है, और भाव पूजा का स्वरूप ये ही पृ० ४१६ पर लिखते हैं कि—

'इहां सर्व जो भाव पूजा है, सो श्री जिनाज्ञा का पालना है'।

इसी तरह श्री हरिभद्रसूरि भी लिखते हैं कि—

'आपणी मुक्ति ईश्वरनी आज्ञा पालवा मात्र छे'।

(जैन दर्शन प्रस्तावना पृ० ३२)

फिर पूजा का स्वरूप भी हरिभद्रसूरि क्या बताते हैं, देखिए—

'पूजा एटले तेओनी आज्ञानुं पालन'।

(जैन दर्शन प्र० पृ० ४१)

इस प्रकार प्रभु आज्ञा पालन रूप भाव पूजा ही आत्म-कल्याण में उपादेय है, किन्तु मूर्ति पूजा नहीं। और भाव पूजा में साधुवर्ग भी पंच महाव्रत, ईर्या भाषादि पंच समिती तीन गुप्ति, और ज्ञानादि चतुष्टय का पालन करके करते हैं, श्रावक वर्ग सम्यक्त्व पूर्वक बारह व्रत तथा अन्य त्याग प्रत्याख्यानादि करके करते हैं, यह भाव पूजा अवश्य मोक्ष जैसे शाश्वत सुख की देने वाली है। और मूर्ति पूजा तो आत्मकल्याण में किसी भी तरह आदरणीय नहीं है, यह तो उल्टी आस्रव द्वार का जो कि—आत्मा को भारी बनाकर आत्मकल्यण से वञ्चित रखता है, सेवन कराने वाली है, जिसमें प्रभु आज्ञा भंग रूप पाप रहा हुआ है, अतएव त्यागने योग्य ही है।

(४) श्री सागरानन्दसूरिजी 'दीक्षानु सुन्दर स्वरूप' नाम पुस्तिका के पृ० १४७ पर लिखते हैं कि—

'श्री जिनेश्वर भगवाननी पूजा वगेरे नु फल चारित्र धर्मना आराधन ना लाखमा अंशे पण नथी आवतुं, अने तेथी तेवी पूजा आदिने छोड़ी ने पण भाव धर्म रूप चारित्र अंगीकार करवा मा आवे छे'।

अब हमारे पाठक स्वयं विचार कर निर्णय करें कि—कहां तो धर्म का अङ्ग चारित्राराधन और कहां इसके लाखवें अंश में भी नहीं आने वाली मूर्ति पूजा? वास्तव में तो मूर्ति पूजा में अनन्तवें भाग भी धर्म नहीं है, किन्तु अधर्म ही है, अतएव त्यागने योग्य है।

(५) पुनः सागरानन्दसूरिजी इसी ग्रन्थ के पृ० १७ में एक चौभंगी द्वारा भाव निक्षेप को ही वन्दनीय, पूजनीय सिद्ध करते हैं, देखिये वह चौभंगी—

'एक तो चांदी नो कटको जो के चोखी चांदी नो छे, छतां रुपियां नी महोर छाप न होय तो तेने रुपियो कहवाय नहीं, अने ते चलण तरीके उपभोग मां आवी शके नहीं? बीजो रुपियानी छाप त्रांबा ना कटका उपर होय तो पण ते त्रांबा नो कटको रुपिया तरीके चाली शके नहीं, त्रीजो त्रांबा ना कटका ऊपर पैसानी छाप होय तो ते रुपियो नज गणाय, अने चोथो भांगोज एवो छे के जेमां चांदी चोखी अने छाप पण रुपियानी साची होय, तेनोज दुनियां मां रुपिया तरीके व्यवहार थइ शके, अने चलण मां चाले'।

यही उदाहरण श्री हरिभद्रसूरि ने आवश्यक वृत्ति में वन्दनाध्ययन की व्याख्या करते हुए वन्दनीय पर भी दिया है।

यद्यपि उक्त चौभंगी लेखक ने मूर्ति पूजा पर नहीं दी, तथापि उक्त चौभंगी पर से यह तो स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि—चतुर्थ भंग अर्थात् सद्भाव भाव निक्षेप युक्त प्रभु ही कार्य साधक हैं, और मूर्ति पूजा तो तांबे के टुकड़े पर रुपये २२४ की छाप वाले दूसरे भंग की तरह एकदम निरर्थक है। मुमुक्षुओं को इस पर खूब मनन करना चाहिये।

(६) चौदह पूर्वधर श्रीमान् भद्रबाहु स्वामी ने व्यवहार सूत्र की चूलिका में चन्द्रगुप्त राजा के पाचवें स्वप्न के फल मे भविष्य में कुगुरुओ द्वारा प्रचलित होने वाली मूर्ति पूजा की भयंकरता दिखाते हुए लिखा है कि—

"पंचमए दुवालस फणि संजुत्तो, करहे अहि दिट्ठो, तस्सफल—दुवालसवास परिमाणो दुक्कालो भविस्सइ तत्थ कालिय-सुयप्पमुहाणि सुत्ताणि वोच्छिज्जिसति, चेइयं ठवावेइ, दव्वहारिणो मुणिणो भविस्साति, लोभेण माला रोहण देवल-उवहाण-उज्जमण जिण बिम्ब-पइट्ठावण विहिं पगासिस्सति, अविहि पथे पडिसइ तत्थ जे केइ साहू साहुणिओ सावय-सावियाओ, विहि-मग्गे वुहिसति तसिं वहूणं, हिलणाणं, णिंदणाणं, खिसणाणं, टारहणाण, भविस्सइ"।

अर्थात्—पाचवें स्वप्न में द्वादश फणों वाले काले सर्प को जो देखा है उसका फल यह है कि—

भविष्य में द्वादश वर्ष का दुष्काल पड़ेगा, उस समय कालिका आदि सूत्र विच्छेद जायँगे, द्रव्य रखने वाले मुनि होंगे, चैत्य स्थापना करेंगे, लोभ के वश होकर मूर्ति के गले में मालारोपण करेंगे, मन्दिर, उपधान, उजमणा करावेंगे, मूर्ति स्थापन व प्रतिष्ठा की विधि प्रकट करेंगे, अविधि मार्ग में पड़ेंगे, और उस समय जो कोई साधु साध्वी, श्रावक, श्राविका, विधि मार्ग में प्रवर्तने वाले होंगे, उनकी बहुत निंदा, अपमान, अप शब्दादि से हीलना करेंगे।

प्रिय पाठक वृन्द ! श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी का उक्त भविष्य कथन बरावर सत्य निकला, ऐसा ही हुआ, और अब तक बराबर हो रहा है।

श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी के उक्त कथन को बताने वाली श्री व्यवहार सूत्र की चूलिका पर श्री न्याय विजयजी इतने क्रुद्ध हैं कि—यदि इनकी चलती तो उक्त चूलिका की समस्त प्रतियें एकत्रित कर हवन कुण्ड की भेट कर देते, किंतु विवशता वश सिवाय मिथ्या भाषण के अन्य कोई उपाय ही नहीं सूझता, जिसका परिचय पहले करा दिया गया है।

(७) सम्बोध प्रकरण में हरिभद्र सूरि लिखते हैं कि—

संनिहि महा कम्मं जल, फल, कुसुमाइ सव्व सचित्तं चेइय मठाइवासं पूयारंभाइ निच्चवासित्तं। देवाइ दव्वभोगं जिणहर शालाइ करणंच ॥

अर्थात्—प्रथम सचित्त जल, फल, फूलों का आरम्भ पूजा के लिए हुवा, चैत्यवास और चैत्य पूजा चली देव द्रव्य भोगना, जिन मन्दिरादि बनवाना चला।

(८) सन्देह दोलावली में लिखा है कि—

गड्डरी-प्पवाहऊ जे एइ नयरं दीसइ बहुजिणेहिं जिणगह कारवणाइ सो धम्मो सुत्त विरुद्धो अधम्मोय।

अर्थात्-लोक में गड्डरिया प्रवाह से गतानुगतिक चलने वाला समूह अधिक होता है, वे जिन मन्दिरादि करवाना यह सूत्र विरुद्ध अधर्म को भी धर्म मानने वाले हैं।

(९) विवाह चूलिका के ९ वें पाहुड़े के ८ वें उद्देशे में लिखा है कि—

जइणं भंते जिण पडिमाणं वन्दमाणे, अच्चमाणे सुय-धम्म चरित्त धम्मं लभेज्जा ? गोयमा ? णो अट्ठे समट्ठे । सेकेणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ ? गोयमा ? पुढवी काय हिंसइ, जाव तस कायं हिंसइ ।

अर्थात्-श्री गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि-अहो भगवान्! जिन प्रतिमा की वन्दना अर्चना करने से क्या श्रुत धर्म चारित्र धर्म की प्राप्ति होती है ? उत्तर-यह अर्थ समर्थ नहीं। पुन प्रश्न-ऐसा क्यों कहा गया ? उत्तर-इसलिए कि-प्रतिमा पूजा में पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवों की हिंसा होती है ।

इस प्रकार विवाह चूलिका में भी मू० पू० द्वारा सूत्र चारित्र धर्म की हानि बताई गई है ।

यद्यपि विवाह चूलिका से उक्त सम्वाद प्रभु महावीर और श्री गौतम स्वामी के बीच होना पाया जाता है, किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि-ग्रन्थकारों की यह एक शैली है, जो प्रश्नोत्तर में प्रसिद्ध और सर्व मान्य महान आत्माओं को खडा कर देते हैं। वर्तमान के बने हुए कितने ही ऐसे स्वतत्र ग्रन्थ दिखाई देते हैं जिनमें उनके रचनाकार कोई अन्य महात्मा होते हुए भी प्रश्नोत्तर का ढांचा भगवान महावीर और श्री गौतमगणधर के परस्पर होने का रचा गया है, ऐसे ही जो सूत्र ग्रन्थ पूर्वधर आदि आचार्य रचित हैं, उनमें भी ऐसी ही शैली पकडी गई है, तदनुसार विवाह चूलिका के रचयिता श्री भद्रबाहु स्वामी ने भी जनता को भगवदाज्ञा का स्वरूप बताने के लिये उक्त कथन को श्री महावीर और गौतम गणधर के

बीच होना बताया है, किन्तु वास्तव में यह रचना शैली ही है, श्री महावीर गौतम की उक्ति से सत्य नहीं, क्योंकि-प्रभु की उपस्थिति के समय तो यह प्रथा थी ही नहीं। इसीलिये किसी प्रमाणिक और गणधर रचित अंग शास्त्रों में भी ऐसा उल्लेख नहीं है, अतएव इस कथन को साक्षात् प्रभु और गणधर के बीच होना मानना भूल है, तो भी मूर्ति पूजा के निषेध में तो उक्त कथन बहुत स्पष्ट है, इस ग्रन्थ को मूर्ति पूजक लोग भी मानते हैं, इसके सिवाय अब किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती।

(१०) महा निशीथ सूत्र का तीसरा और पाँचवां अध्ययन तो इस मूर्ति पूजा की जड़ काटने में कुछ भी न्यूनता नहीं रखता, जो कि—मूर्ति पूजकों का मान्य ग्रंथ है।

इस तरह मूर्ति पूजक मान्य ग्रन्थों से भी मूर्ति पूजा निषिद्ध ठहरती है, आत्मार्थी बन्धुओं को इसका त्याग कर इतना समय आत्म कल्याण की साधक सामायिक में लगाना चाहिये। मू० पू० से सामायिक करना श्रेष्ठ है।

द्रव्य पूजा (अन्य सचित्त या अचित्त वस्तुओं से पूजा करना) सावद्य-हिंसायुक्त है, साथ ही व्यर्थ और निरर्थक भी। अतएव इसका त्याग कर भाव पूजा रूप सामायिक कर आत्म साधन करना चाहिए श्रावकों की सामायिक थोड़े समय का देशविरती चारित्र है, अतएव इसका आराधन करना स्वल्प कालका चारित्र धर्म पालना है। स्वयं विजयानन्द सूरि स्वीकार करतेहैं कि—

जब श्रावक सामायिक करता है, तब साधु की तरह हो जाता है, इस वास्ते श्रावक सामायिक में देव स्नात्र, पूजादिक, न करें, क्योंकि भाव स्तव के वास्ते द्रव्य स्तव करना है सो

भावस्तव सामायिक में प्राप्त होजाता है, इस वास्ते श्रावक सामायिक में द्रव्यस्तवरूप जिन पूजा न करें।

जैनतत्वादर्श पृ० ३७१)

इसके सिवाय "पर्यूषण पर्वनी कथाओं के पृ० ८६ में भी लिखा है कि—

वली सामायिक करता थका सावद्य योग नो त्याग थाय, माटे सामायक श्रेष्ठ छे, तथा सामायक करनार ने मात्र पूजादिक ने विषे पण अधिकार नथी, अर्थात् द्रव्यस्तव करण नी योग्यता नथी, ते सामायिक उदय आवव् महा दुर्लभ छे।

इन दो प्रमाणों के सिवाय सामायिक की उत्कृष्टता में और भी प्रमाण दिये जा सकते हैं, किन्तु ग्रन्थ गौरव के भय से यहा इतना ही बताया जाता है, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि—मूर्ति पूजक भाइयों के कथन से भी मूर्ति पूजा से सामायिक अत्यधिक श्रेष्ठ है। एक साधारण बुद्धि वाला भी समझ सकता है कि—मूर्ति पूजा सावद्य-हिंसाकारी-व्यापार है, और सामायिक में सावद्य व्यापार का त्याग हो जाता है, इस नग्न सत्य को मूर्ति पूजक भी स्वीकार कर चुके हैं, इसलिए मूर्ति पूजक समाज के साधुओं को चाहिये कि—श्रावकों को सावद्य मूर्ति पूजा छोड़ कर सावद्य त्याग रूप सामायिक करने का ही उपदेश करें, किन्तु जब मनुष्य मतमोह में पड़ जाता है तब हेय को छोड़ने योग्य समझकर भी नहीं छोड़ता है, यही हाल ऊपर में सामायिक को श्रेष्ठ कहने वाले श्री विजयानन्दजी का भी हुआ पहले सामायिक की प्रशंसा की और फिर ये ही आगे बढ़ कर सामायिक वाले श्रावक को सामायिक छोडकर पूजा के लिए फूल गूथने आदि की आज्ञा प्रदान करते हैं। देखिये—

" पूजादिक सामग्री के अभाव से द्रव्य पूजा करणे असमर्थ है, इस वास्ते सामायिक पारके काया से जो कुछ फूल गूंथनादिक कृत होवे सो करे।

प्रश्न—सामायिक त्याग के द्रव्य पूजा करणी उचित नहीं ?

उत्तर—सामायिक तो तिसके स्वाधीन है। चाहे जिस वखत कर लेवे, परन्तु पूजा का योग उसको मिलना दुर्लभ है, क्यों कि—पूजा का मंडाण तो संघ समुदाय के आधीन है, कदेई होता है, इस वास्ते पूजा में विशेष पुण्य है। जैन तत्त्वादर्श पृ० ४१७)

इस प्रकार वेही विजयानन्दजी यहां भावस्तव रूप सामायिक को त्याग कर युक्ति से सावद्य पूजा में प्रवृत्त होने की आज्ञा प्रदान करते हैं, एक सामायिक का उदय आना दुर्लभ कहता है तो दूसरा उल्टा पूजा का योग कठिन बताता है। इस प्रकार मन गढ़ंत लिख डालने वालों को क्या कहा जाय ? श्रीमान् विजयानन्द सूरि के मन्तव्यानुसार तो सामायिक में ही फूल गूंथ लेने चाहिये, क्योंकि इन्हीं का कथन (सम्यक्त्व शल्योद्धार में) है कि—फूलों से पूजना फूलों की दया करना है। आश्चर्य तो यह है कि—सम्यक्त्व शल्योद्धार में तो इस प्रकार लिखा, और जैन तत्त्वादर्श में सामायिक में द्रव्य पूजा का निषेध भी कर दिया !

वास्तव में सामायिक उदय आना ही कठिन है इसमें मन वचन व शरीर के योगों को आरम्भादि सावद्य व्यापार से हटा कर निरारम्भ ऐसे सम्वर में लगाना होता है, जो कि उतने समय का चारित्र धर्म का आराधन है। गृहस्थ लोगों से

आरम्भ परिग्रह आदि का छूटना ही अधिक कठिन है, इसलिए सामायिक का उदय में आना ही दुर्लभ है।

मूर्तिपूजा में दुर्लभता कैसी! झट से स्नान किया, फूल तोडे, केशर चन्दनादि घिस कर पूजा की। ऐसे आरम्भ जन्म कार्य से तो चित्त प्रसन्न ही होता है, और यह प्रवृत्ति भी सब को सरल व सुखद लगती है, इसमें दुर्लभता की बात ही क्या है?

धर्म दया में है हिंसा में नहीं

महानुभावो! खरा धर्म तो इच्छाओं को वश कर विषय कषाय और आरम्भ के त्याग में तथा प्राणी मात्र की दया में है। इसके विपरीत निरर्थक हिंसा भव भ्रमण को बढ़ाने वाली होती है। मात्र एक दया ही संसार से पार करने में समर्थ है, यदि शंका हो तो प्रमाण में आगम वाक्य भी देखिये—

(१) श्री आचारांग सूत्र के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में जाइ मरण मोयणाए कह कर धर्म के लिए की गई पृथ्वी कायादि जीवों की हिंसा को अहित एवं अबोधी कर बताई है, और प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि—जो इस प्रकार की हिंसा से त्रिकरण त्रियोग से निवृत्त है, उसे ही मैं संयमी साधु कहता हूं।

(२) सूत्र कृतांग अ० ११ गा० ६ से मोक्ष मार्ग की प्ररूपणा करते हुए प्रभू फरमाते हैं कि—

पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउ जीवा तहागणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तण रुक्खा सबीयगा ॥ ७
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जइ ॥ ८

सव्वाहिं अणुजुत्तिहिं, मतिमं पडिलेहिया ।
सव्वे अक्कंत दुक्खाय, अतो सव्वे अहिंसया ॥६
एयं खुणाणिणो सारं, जं नहिंसइ किंचणं ।
अहिंसा समयं चेव, एतावंत्तं वियाणिया ॥१०
उड्ढं अहेय तिरियं, जेकेइ तस थावरा ।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति णिव्वाण माहियं ॥११

अर्थात्—पृथ्वी, अप, तेजस वायु, वनस्पति, बीज सहित तथा त्रस प्राणी, इस तरह छः कायरूप जीव कहे गये हैं, इनके सिवाय संसार में कोई जीव नहीं है इन सब जीवों को दुःख अप्रिय है, ऐसा युक्तिओं से बुद्धिमान का देखा हुआ है। अहिंसा और समता ही मुक्ति मार्ग है, ऐसा समझ कर किसी जीव की हिंसा नहीं करे, यही ज्ञानी का सार है। उर्ध्व अधो और तिर्यक् दिशा में जो जीव रहने वाले हैं उनकी हिंसा से निवृत्ति करने को निर्वाण मार्ग कहा है।

(३) "दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं"। सूत्रकृतांग श्रु० २ अ० ६।

(४) पुन. सूत्र कृतांग श्रु० २ अ० १७ में—

" जे इमे तस थावरा पाणा भवंति तेणो सयं समारंभंत्ति, णो अएणे हिं समारंभावेंति, अएणं समारंभंतं न समणु जाणंति, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवसंते उवट्ठिए, पडिविरते से भिक्खू।

(५) ज्ञाता धर्म कथांग में मेघकुंवार ने हाथी के भव में एक पशु की दया की जिससे संसार परित् कर दिया, स्वयं सूत्रकारने वहां 'पाणाणुकम्पयाए' आदि से संसार को परिमित कर देने का कारण दया ही बताया है।

(६) ज्ञाता धर्म कथा अ० ८ में भगवती मल्लि कुमारी ने चोक्खा परिव्राजिका को कहा कि—जिस प्रकार रक्त में सना हुआ वस्त्र रक्त से धोने पर शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार हिंसा करने से धर्म नहीं हो सकता ।

(७) प्रश्न व्याकरण के प्रथम सम्वर द्वार में स्वय श्रीगणधर महाराजा ने दया की महिमा की है और साथ ही दयावानों की महिमा करते हुए दया के गुण निष्पन्न ६० नाम भी बताये हैं। उक्त प्रकरण में यहां तक लिखा गया है कि—श्री सर्वज्ञ प्रभु ने " समस्त जगत् के जीवों की दया अर्थात् रक्षा के लिए ही धर्म कहा है " ।

(८) उत्तराध्ययन सूत्र अ०१८ में सगर चक्रवर्ती का दया से ही मोक्ष पाना बताया है, यथा—

सगरो वि सागरन्त, भरह वास नराहिवो ।
इस्सरिय केवल हिच्चा, दयाए परिनिव्वुए ॥

उक्त प्रमाणों से हमारे प्रेमी पाठक यह स्पष्ट समझ सके होंगे-कि जैनागमों में आत्मकल्याण की साधना के लिये दया को सर्व प्रधान और अत्यधिक महत्व का स्थान दिया गया है, किन्तु मूर्ति पूजा के लिए तो एक बिन्दु मात्र भी जगह नहीं है,

क्योंकि-यह दया की विरोधिनी और हिंसा जननी है। अब इस दया की महिमा में कुछ प्रमाण मूर्ति पूजक ग्रन्थों के भी देखिये, जिन में कि ये धर्म के कार्यों में भी हिंसा करना बुरा कहते हैं——

(१) योगशास्त्र के प्रकाश २ में श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं ।

हिंसा विघ्नाय जायते, विघ्न शांत्ये कृताऽपिहि ।
कुलाचार धियाप्येषा, कृता कुल-विनाशिनी ॥२६॥

अर्थात्-विघ्न शांति या कुलाचार की बुद्धि से भी की गई हिंसा विघ्नवर्द्धक एवं कुल का क्षय करने वाली होती है।

(२) पुनः हेमचन्द्रजी उक्त ग्रन्थ और उक्त ही प्रकाश के श्लोक ३१ में लिखते हैं कि——

दमो देव गुरुपास्ति-द्दानमध्ययनं तपः ।
सर्वमप्येतद् फलं, हिंसां चेन्न परित्यजेत् ॥ ३१

अर्थात्-जो हिंसा का त्याग नहीं करे तो देव गुरु की सेवा और दान, इन्द्रिय दमन, तप, अध्ययन, यह सब निष्फल है।

(३) फिर आगे चालीसवाँ श्लोक पढ़िये——

शम शील दया मूलं, हित्वा धर्मं जगद्धितं ।
अहो ! हिंसापि धर्माय, जगदे मन्दबुद्धिभिः ॥ ४०

अर्थात्—शान्ति शील व दया मूलके जगहितकारी धर्म को छोड़कर मन्दबुद्धि वाले लोग धर्म के लिए भी हिंसा कहते हैं, यह महदाश्चर्य है।

(४) श्री हेमचन्द्राचार्य मन्दिर मूर्ति से तप संयम की महिमा अधिक बताते हुए प्रकाश, श्लोक १०८ के विवेचन में लिखते हैं कि-(योगशास्त्र भा० पृ० १३७)

कंचण-मणि सोवाणं, थंभ सहस्सो-सियं भुवण-तलं ।
जो कारिज्जइ जिणहरं, तओ वि तव-संजमो अहिओ ॥

अर्थात्-सोने व मणिमय पायरी वाला हजारों स्तंभों से उन्नत तले वाला भी यदि कोई जिनमन्दिर बनावे तो उससे भी तप संयम श्रेष्ठ है।

(५) योग शास्त्र भाषान्तर आवृत्ति चौथी पृ० १३७ य० १० में १०८ वें श्लोक का विवेचन करते हुए श्री केशर विजयजी गणि लिखते हैं कि–

बहेतर छे के प्रथमथीज धर्म निमित्ते आरम्भ न करवो"

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के ज्ञानार्णव ग्रन्थ के आठवें सर्ग में अहिंसाव्रत के विवेचन का कुछ अवतरण पढिये—

अहो व्यसन विध्वस्तैर्लोकः पाखण्डिभिर्बलात्
नीयते नरकं घोरं, हिंसा शास्त्रो पदेशकः ॥ १ ॥
शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभिः।
कृतः प्राणभृतां घातः, पातयत्यविलंवितं। १८।
चारु मंत्रौषधानांवा, हेतो रन्यस्यवा क्वचित्।
कृता सती नरैर्हिंसा, पातत्य विलंवितं ॥ २७ ॥
धर्मबुद्धयाऽधमैः पाप जंतु घातादि लक्षणम्।
क्रियते जीवितस्यार्थे पीयते विषमं विषं ॥ २६ ॥
अहिंसैव शिवं सूते दत्तेच, त्रिदिव श्रय।
अहिंसैव हितं कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति। ३२।
अहिंसैकापि यत्सौख्यं, कल्याणमथवाशिवम्।
दत्ते तद्देहिनां नायं, तपः श्रत यमोत्करः ॥ ४७ ॥

अर्थात्—

धर्म तो दयामय है किन्तु स्वार्थी लोग हिंसा का उपदेश देने वाले शास्त्र रचकर जगत जीवों को बलात्कार से नर्क में लेजाते हैं यह कितना अनर्थ है ! ॥ १६ ॥

अपनी शान्ति के लिये या देवपूजा अथवा यज्ञ के लिये जो प्राणी हिंसा करते हैं वह हिंसा उनको शीघ्र ही नर्क में लेजाने वाली होती है ॥ १८ ॥

देवपूजा, या मन्त्र अथवा औषध के लिये अथवा अन्य किसी भी कार्य के लिये की हुई हिंसा जीवों को नर्क में लेजाती है ॥ २७ ॥

जो पापी धर्म बुद्धि में हिंसा करते हैं वे जीवन की इच्छा से विपरीत हैं ॥ २६ ॥

यह अहिंसा ही मुक्ति और स्वर्ग लक्ष्मी की दाता है यही हित करती है, और समस्त आपत्तियों का नाश करती है। ॥ ३२ ॥

अकेली अहिंसा ही जीवों को जो सुख, कल्याण एवं अभ्युदय देती है, वह तप स्वाध्याय और यमनियमादि नहीं देख सकते ॥ ४७ ॥

इतने स्पष्ट प्रमाणों से अहिंसामय धर्म ही आत्मा को शान्तिदाता सिद्ध होता है। इससे प्राणी हिंसा मय मूर्ति पूजा निरर्थक और अहितकार ही पाई जाती है। यदि आचार्य पं चतुरसेनजी शास्त्री के शब्दों में कहा जाय तो पाखण्डी की जड़ अधिकांश में मूर्ति-पूजा ही है। इस मूर्ति पूजा के आधार से कितनी ही अंध श्रद्धा फैली हुई है और कई प्रकार की अंध श्रद्धाओं की यह जननी सी है। जितनी हत्या धर्म के नाम पर मूर्ति-पूजा द्वारा हुई और हो रही है उतनी अन्य किसी भी कारण से नहीं हुई व न होगी। इसी मूर्ति-पूजा के नाम पर होती हुई हिंसा को मिटाने के लिये वीर रामचन्द्र शर्मा को अपने बलिदान करने की वारबार

पुजारियों करनी पड़ती है। यद्यपि जैन समाज की मूर्ति पूजा में इस प्रकार की हिंसा नहीं होती, तथापि इसी द्वारा के जीवों का नाश एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के असंख्यात जीवों का समाहार तो हो ही जाता है, और धर्मान्धता के कारण मत के पक्ष [illegible] निन्दनीय ऐसी मानव हत्या, कहीं अपने भाई की हत्या भी हो जाती है, जिसके लिये केसरिया तीर्थ हत्याकाण्ड का काला कलंक प्रसिद्ध ही है। ऐसी अनर्थ परम्परा की मूल, पाखण्ड की प्रचारक व अन्धविश्वास की जननी इस मूर्ति पूजा को समझदार लोग कभी उपादेय नहीं कह सकेंगे।



४०—अंतिम निवेदन

इतने कथन के अन्त में अपने मूर्ति-पूजक बन्धुओं से सनम्र निवेदन करता हूं कि वे व्यर्थ की धांधली और शान्त समाज पर मिथ्या आक्रमण करना छोड़कर शुद्ध हृदय से विचार करें। और जिस प्रकार दयादान, सत्य संयम, आदि हितकर धर्म की पुष्टि और प्रमाणिकता सिद्ध की जाती है उसी प्रकार मूर्ति-पूजा की सिद्धि कर दिखावें, और यदि यह कार्य आगम सम्मत हो तो वह भी जाहिर करदें कि अमुक उभय मान्य मूल सिद्धान्त में सर्वज्ञ प्रभु ने मूर्ति पूजा करने की आज्ञा प्रदान की है। इस प्रकार विधिवाद के स्पष्ट प्रमाण पेश करें, कथाओं की व्यर्थ ओट लेना, और शब्दों की निरर्थक खींच तान करना यह तत्वगवेषियों का कार्य नहीं किन्तु अभिनिवेष में उन्मत्त मतान्ध व्यक्तियों का है। इसलिये आगमों के विधिवाद दर्शक प्रमाण ही पेश करें, कथाओं की ओट और शब्दों की खींचतान अथवा आगम आज्ञा की अवहेलना करने वाले ग्रन्थों के प्रमाण तो किसी भोले और ग्रामीण भक्तों को समझाने के लिये ही रख छोड़ें। मैं आप लोगों की सुविधा के लिये आप ही की मूर्ति-पूजक समाज के प्रतिभाशाली विद्वान पं० बेचरदासजी दोशी रचित 'जैन साहित्य मां विकार थवाथी थयेली हानि' नामक पुस्तक में पंडितजी के विचार आपके सामने रखता हूं जिससे आपको तत्व निर्णय में सरलता हो, देखिये पृ० १२५ से—

'मूर्तिवाद चैत्यवाद पछीनो छे, एटले तेने चैत्यवाद जेटलो प्राचीन मानवाने आपणी पासे एक पण एवु मजबूल प्रमाण नथी के जे शास्त्रीय (सूत्र विधि निष्पन्न) होय वा ऐतिहासिक होय, आम तो आपणे कुलाचार्यो शुद्धा मूर्तिवाद ने अनादि नो ठरावधानी तथा वर्द्धमान भाषित जणाववानी वणगा फूकवा जेवी वातो कर्या करीए छीए, पण ज्यारे ते वातो ने सिद्ध करवा माटे कोई ऐतिहासिक प्रमाण वा अंग सूत्रनु विधि वाक्य मांगवा मां आवे छे त्यारे आपणी प्रवाह वाही परपरानी ढाल ने आगल धरीए छीए अने बचाव माटे आपणा वडिलो ने आगल करीए छीए मे घणी कोशिष करी तो पण परपरा अने थाथा वाक्य प्रमाणं सिवाय मूर्तिवाद ने स्थापित करवा माटे मने एक पण प्रमाण वा विधान मली शक्यु नथी वर्तमान कालमा मूर्ति पूजा ना समर्थन मा केटलीक कथाओ ने (चारण मुनि नी कथा, द्रौपदीनी कथा, सूर्याभ देवनी कथा अने विजयदेवनी कथा) पण आगल करवा मा आवे छे, किन्तु वाचकोए आ बाबत खास लक्षमा लेवानी छे के विधि ग्रन्थोंमा दर्शावातो विधि आचार ग्रन्थों मा दर्शावातो आचार विधान खास शब्दो माज दर्शाववामा आवे छे, पण कोइनी कथाओ मा थी के कोइना ओठा लइने अमुक २ आचार वा विधान उपजावी शकातो नथी। (आगे पृ० १२७ में) ' ते छता तेमा जे विधान नी गंध पण न जणाती होय ते विधान ना समर्थन माटे आपणे कथाओ ना ओठा लइए ने कोई ना उदाहरणों आपीए ते बाबत ने हु <u>'नमस्तरण'</u> सिवाय बीजा शब्द थी कही शकतो नथी, ' हुं हिम्मत पूर्वक कही शकु छु के मे साधुओ तेम श्रावकों माटे देव दर्शन के देव पूजन नु विधान कोई अग सू ोमां ' ' वाच्यु

एटलुंज नहीं पण भगवती वगेरे सूत्रोमां केटलाक श्रावकों नी कथाओ आवे छे, तेमां तेओनी चर्यानी पण नोंध छे परंतु तेमां एक पण शब्द एवो जणातो नथी के जे ऊपर थी आपणे आपणी उभी करेली देव पूजननी अने तदाश्रित देवद्रव्यनी मान्यताने टकावी शकीए।

हुं आपणी समाज ना धुरंधरों ने नम्रता पूर्वक विनन्ति करूं छुं के तेओ मने ते विषेनुं एक पण प्रमाण वा प्राचीन विधान—विधि वाक्य बतावशे तो हुं तेओनो घणोज ऋणी थइश।...... ...(आगे पृ० १३१ में)......हुं तो त्यां सुधी मानुं छुं के श्रमण ग्रन्थकारो जेओ पंच महाव्रत ना पालक छे, सर्वथा हिंसा ने करता नथी, करावता नथी, अने तेमां सम्मति पण आपता नथी, जेओ माटे कोइ जातनो द्रव्यस्तव विधेय रूपे होइ शकतो नथी, तेओ हिंसा मूलक आ मूर्तिवाद ना विधान नो अने तदवलम्बी देव द्रव्यवाद ना विधान नो उल्लेख शी रीते करे?"

तत्त्वेच्छुक पाठक महोदयो? मूर्ति पूजक समाज के एक प्रसिद्ध विद्वान के उक्त तटस्थ विचार मनन करने में आपको भारी सहायता देंगे, इस पर से आप अच्छी तरह से समझ सकेंगे कि—हमारे मूर्ति पूजक बंधु सन्मार्ग से वंचित हैं, इन्हें सत्यासत्य के निर्णय करने की रुचि नहीं है इसीसे ये लोग आंखें बंदकर सूत्र तथा चारित्र धर्म का घातक, संसार वर्द्धक एवं सम्यक्त्व को दूषित करने वाली ऐसी मूर्ति पूजा के चक्कर में पड़े हुए हैं।

ऐसी हालत में आपका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि—प्रथम आप स्वयं इस विषय को अच्छी तरह समझ लें, फिर

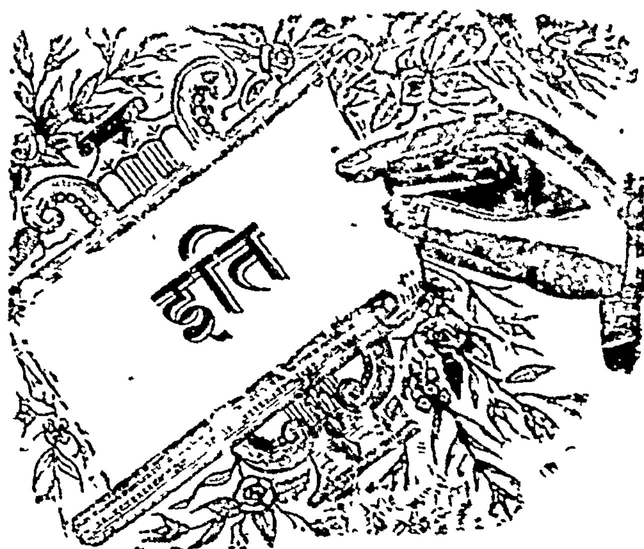
अपने से मिलने वाले सरल बुद्धि के मूर्ति पूजक बंधुओं को केवल परोपकार बुद्धि से योग्य समय नम्र शब्दों से समझाने का प्रयास करें। आवेश को पास तक नहीं फटकने दें। तो आशा है कि—आप कितने ही भद्र बंधुओं का उद्धार कर सकेंगे, उन्हें शुद्ध सम्यक्त्वी बना सकेंगे, और वे भी आपके सहयोग से शुद्ध धर्म की श्रद्धा पाकर अपनी आत्मा को उन्नत बना सकेंगे।

इस छोटीसी पुस्तिका को पूर्ण करने के पूर्व में मूर्ति पूजक विद्वानों से निवेदन करता हू कि—वे एक वार शुद्ध अन्त करण से इस पुस्तक को पठन मनन करें, उचित का आदर करें और जो अनुचित मालूम दे, उसके लिये मुझे लिखें, मैं उनकी सूचना पर निष्पक्ष विचार करूंगा, और योग्य का आदर एवं अयोग्य के लिये पुनः समाधान करने का प्रयास करूंगा। मूर्ति पूजक विद्वान लोग यदि मूर्तिपूजा करने की भगवदाज्ञा ३२ सूत्रों के मूल पाठ से प्रमाणित कर देंगे, तो मैं उसी समय स्वीकार कर लूंगा।

यदि इस पुस्तिका में कहीं कटु शब्द का प्रयोग होगया हो तो उसके लिये मैं सविनय क्षमा चाहता हुआ निवेदन करता हू कि—पाठकवृन्द कृपया इसके भावों पर ही विशेष लक्ष्य रखते हुए आई हुई शाब्दिक कटुता को कटु औषधि के समान हितविहर मान कर ग्रहण करें, अप्रसन्न नहीं होवें, इस तरह मनन करने पर आपकी श्रद्धा शुद्ध होकर आपको विशुद्ध जैनत्व के उपासक बना देगी जिससे मेरा प्रयत्न भी सफल होगा।

अन्त में श्री जिनवाणी से विपरीत कुछ भी शब्द वाक्य या अर्थ लिखा गया हो तो मिथ्या दुष्कृत देता हुआ, आगमज्ञ बहुश्रुतों से नम्र विनती करता हूं कि वे कृपया भूल को समझा देने का कष्ट स्वीकार करें।

॥ सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥



॥ कव्वाली ॥

बहाना धर्म का करके, कुगुरु हिंसा बढ़ाते हैं ।
बिम्ब पे, बील, दल, जल, फूल, फल माला चढ़ाते हैं ॥ टेर॥
नेत्र के विषय पोषन को, रचे नाटक विविध विधि के ।
हिंडोला रास और साँजी, मूढ़ मण्डल मंडाते हैं ॥१॥
करावें रोशनी चंगी, चखन की चाह पूरन को ।
बता देवें भगति प्रभु की, आप मौजें उड़ाते हैं ॥२॥
लिखा है प्रकट निशि भोजन, अभक्ष्यों में तदपि भोंदू ।
रात्रि में भोग मोदक का, प्रभू को क्यों लगाते हैं ॥३॥
न कोई देव देवी की, मूर्ति खाती नजर आती ।
दिखा अगुष्ट मूरति को, पुजारी[1] माल खाते हैं ॥४॥
कटावें पेड़ कदली के, बनावें पुष्प के बंगले ।
भक्ति को मुक्तिदा कहके, जीव बेहद सताते हैं ॥५॥
सरासर दीन जीवों के, प्राण लूटें करें पूजा ।
बतावें अङ्ग परभावन् कुयुक्ति पठ लगाते हैं ॥६॥
सुगुरु श्री मगन मुनिवर को, चरण चेरो कहे 'माधव' ।
धर्म के हेतु हिंसा जो, करें सो कुगति जाते हैं ॥७॥

---

[1] पुजारी—पूजा, अरि, लेखक—